संपादक
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 20, अंक 2
जुलाई, 2006

वर्ष 20 अंक 2 जुलाई, 2006

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे,** द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. **दयाकृष्ण,** चौथी मंज़िल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. **अशोक वाजपेयी,** सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, किसांन मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. **अम्बिकादत्त शर्मा,** बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 100/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा श्रीजी प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

अनुक्रमणिका

1.	अस्तित्व का विमर्श (2) : प्राकृत सत्ता और प्रकार	गोविन्दचन्द्र पांडे	123
2.	सत्तामीमांसा के आधारभूत प्रश्न	राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय	153
3.	प्रामाण्य-विचार	यशदेव शल्य	163
4.	सभ्यता की धारणा और भारत में नृत्त : कला की स्वायत्तत का प्रत्यय	मुकुन्द लाठ	175
5.	भारतीय दर्शनों के विभिन्न वर्गीकरण	नारायण शास्त्री द्राविड़	201
6.	शल्यजी का काव्यचिन्तन : एक पुनः प्रतिक्रिया		215
7.	प्रोफेसर राधावल्लभ त्रिपाठी की टिप्पणी पर कुछ स्पष्टीकरण	यशदेव शल्य	223

अस्तित्व का विमर्श २ - प्राकृत सत्ता और प्रकार

गतांक से आगे ...

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

यद्यपि सत्ता प्रत्यक्ष-विश्रान्त प्रतीत होती है, किन्तु उसका सम्यक् विज्ञान प्रत्यक्षातीत तत्त्वों की अपेक्षा करता है जोकि किसी न किसी रूप में सामान्यात्मक होते हैं। यद्यपि सत्ता की प्रत्यक्षगत व्यापकता अविचारित रूप से स्वीकृत होती है, प्रत्यक्षातीत सामान्य तत्त्वों का अस्तित्व विचार के प्रसंग में अनिवार्य है, इस द्वन्द्व से बार-बार जूझना पड़ा है। दर्शन के इतिहास से यहाँ उदाहरण देना अनावश्यक है, क्योंकि उसमें सभी प्रश्न प्रश्नान्तर-सम्बन्ध से जुड़े रहते हैं। इसलिए यहां हम सामान्य के विश्लेषण से ही विचार आरम्भ करेंगे।

सामान्य के विषय में तीन प्रकार के मत प्रसिद्ध हैं–एक सामान्य को नाममात्र मानता है, एक अन्य मत सामान्य को अवस्तु सत्, विज्ञप्ति सत् अथवा विकल्पगोचर मात्र मानता है। उस मत में सामान्य अवस्तु होते हुए भी निरर्थक नहीं हैं, प्रत्युत वे अवधारणात्मक विकल्प हैं। एक तीसरे मत के अनुसार सामान्य वास्तविक तत्त्व हैं, उनमें स्वतन्त्र स्वभाव होता है, यद्यपि वे प्रत्यक्षगोचर वस्तुओं की तरह क्रियाशील और अनित्य नहीं हैं। स्वत:सिद्ध तत्त्वों को चेतना के अपरोक्ष विषय मानकर कुछ दार्शनिक उन्हें प्रत्यय भी मानते हैं।

इस प्रकार ऐन्द्रिय विषयों में अनुगत-प्रतीति के प्रज्ञापक शब्द प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प के वाचक हैं न कि प्रत्यक्ष-अवभास के गोचर वस्तु-धर्म के अथवा प्रत्यक्ष-निरपेक्ष वस्तु मात्र धर्म के। इस प्रकार इन सामान्यों में किसी नये प्रकार की सत्ता प्रकट नहीं है, यद्यपि इनमें अस्तित्व एक विकल्पात्मक प्रकार से प्रकट होता है। व्यावहारिक अस्तित्व एक ओर प्रत्यक्ष सत्ता के रूप में मिलता है दूसरी ओर इस सत्ता के विकल्पित प्रकारों के रूप में, जिनमें सत्ता नहीं होती किन्तु विचारणीयता होती है। दूसरे प्रकार के सामान्य वे हैं जो प्रत्यक्ष वस्तु में विशेष धर्मों के नीलत्व, घटत्व आदि प्रकारक उद्गृहीत धर्म न हो कर उनके तुलनात्मक या अपेक्षात्मक ज्ञान पर निर्भर करते हैं, जैसे आकार, मात्र, संख्या, परत्व, अपरत्व-रूप क्रम, अवयव-अवयवी भाव, कार्य-कारण भाव, विशेष-विशेष्य भाव, आधार-आधेय, भाव-विभाग, तादात्म्य, भेद-अभेद आदि। संक्षेप में वस्तुओं की तुलना से उनके सम्बन्धों का और आपेक्षिक धर्मों का पता चलता है। किन्तु वे धर्म किसी विशेष प्रत्यक्ष वस्तु में न

होकर सभी प्रकार के विषयों के लिए एक प्रकार के निरूपण का प्रस्तार कहे जा सकते हैं। प्रत्यक्ष से पता चलता है यह नीला है, किन्तु यह विशेष्य है, नील विशेषण है यह विचार से पता चलता है। 'हवा में पक्षी उड़ते हैं' यहाँ हवा आधार है, पक्षी आधेय। यह भी सम्बन्ध एक विचार-गोचर सम्बन्ध के सामान्य प्रकार का गोचर है। इन सभी सामान्य धर्मों में जो सम्बन्ध सापेक्ष हैं उनमें कुछ विशेष रूप से महत्त्व के हैं, जैसे संख्या, क्रम और कार्य-कारण भाव। ये प्रत्यक्ष वस्तुओं में निदर्शित होते हैं और उनके कार्य और सत्ता को उसी प्रकार नियन्त्रित करते हैं जैसे रेल की पटरियां रेल की गति को।

संवेदनीय धर्मों से अधिक व्यापक ये बुद्धिगोचर सामान्य बहुधा अमूर्त या अतीन्द्रिय तत्त्व भी माने गये हैं। समस्त व्यावहारिक सत्ता का सार इनमें संगृहीत है। वह इस अर्थ में नहीं कि वे व्यावहारिक सत्ता को ईंधन प्रदान करते हैं किन्तु इस प्रकार जैसे पटरियों का जाल और टाइम-टेबिल रेलगाड़ी के चलने को नियन्त्रित करते हैं। भौतिक पिण्डों की गति उनके आपेक्षिक मान और दूरी पर निर्भर आकर्षण शक्ति से निर्धारित होती है। इस निर्धारण के तत्त्व गणित-बुद्धि के गोचर हैं और गणित के नियमों का अनुसरण करते हैं। गणित के नियम स्वत:सिद्ध और उन पर आधारित तर्क-सिद्ध विषयों का प्रतिपादन करते हैं। जहां कहीं स्पष्टत: अलग-अलग बहुत से विषय हैं जिन्हें नियत समूहों में बाँटा जा सकता है वहां संख्या का ज्ञान उत्पन्न होता है और यह ज्ञान एक उन्नत प्रातिभ और तार्किक ज्ञान के क्षेत्र की सूचना देता है। ऐसे ही क्रमिक सम्बन्ध का बोध देश और काल के बोध को जन्म देता है। यद्यपि देश और काल के क्रम क्रमिक संख्याओं से निरूपित होते हैं, किन्तु वे इतने मात्र से निश्शेषित नहीं होते। जिन विषयों में दैशिक अथवा कालिक क्रम रहता है उनमें दैशिक वृत्तित्व और कालिक वृत्तित्व भी रहते हैं। इनमें दैशिक वृत्तित्व प्राय: संवेद्य धर्मों में रहता है जबकि कालिक वृत्तित्व मानसिक घटनाओं में भी रहता है। देश काल के निरूपण इनके मान का ही निरूपण करते हैं, उनके रूपगत प्रकार का नहीं। देश और काल में वृत्तित्व रूपी धर्म व्यावहारिक सत्ता का अन्तरंग धर्म है किन्तु उसका क्रमात्मक घटक और मान अमूर्त तत्त्व-व्यावस्था या प्रत्यय पर निर्भर करते हैं।

संक्षेप में प्रत्यक्ष द्रव्य-सत्ता का नियामक स्वभाव उसके सम्बन्ध-सापेक्ष धर्मों पर निभर करता है। वे सम्बन्ध अप्रत्यक्ष तत्त्व-व्यवस्था पर निर्भर करते प्रतीत होते हैं। यह सम्भव है कि सम्बन्ध द्रव्य-स्वभाव का ही प्रकाशन है और उन सम्बन्धों को निरूपित करने वाले तत्त्व अन्तत: व्यावृत्तियां ही हैं। किन्तु ये व्यावृत्तियां अपने निश्चित रूपों में बुद्धिगोचर होती हैं और प्रत्यक्ष धर्मों की विशेषता का अतिक्रमण करती हैं। इस रूप में वे एक स्वतन्त्र बौद्धिक-तात्त्विक अस्तित्व का प्रकार प्रकट करती हैं। ऊपर कहा गया था कि जब किसी धर्म या प्रकार का कथन होता है तो वह

या तो उसके स्वभाव मात्र का कथन होता है या उसके किसी धर्म या प्रकार का कथन होता है। उदाहरण के लिए 'शतुर्मुर्ग है' इस वाक्य में शतुर्मुर्ग के भावात्मक अस्तित्व का कथन है। 'आकाश कुसुम नहीं है' इस वाक्य में आकाश कुसुम के भाव या अस्तित्व का निषेध है। 'शतुर्मुर्ग चिड़िया है' इस वाक्य में जातीय सामान्य धर्म का 'है' के द्वारा विधान किया गया है।

ज्ञान के सभी विषयों में उनके प्रकार के साथ भाव या अस्तित्व की भी सूचना होती है, किन्तु ज्ञान से स्वतन्त्र न होने पर अस्तित्व कल्पित या अवास्तविक माना जाता है, जैसे स्वप्न अथवा भ्रान्तियों के विषय। इस प्रकार का प्रतीयमान पर काल्पनिक अस्तित्व आभास कहा जा सकता है। कुछ आभास स्मृति रूप अवभास होते हैं कुछ असंगत कल्पनाएं होते हैं। कुछ सम्भावनाएं होते हैं। सम्भावनात्मक आभास और तात्त्विक भान में समानान्तरता होती है। गोदान उपन्यास के होरी और धनिया और चतुरी चमार उपन्यास का चतुरी चमार मानव-सम्भावनाओं की कल्पित मूर्त्तियां हैं। कल्पित होने पर भी उनका अस्तित्व मनमोदक के समान तुच्छ नहीं है।

कल्पित सत्य हो अथवा सम्भावित सत्य दोनों ही स्थितियों में विषय ज्ञान में प्रदत्त न होकर उसके द्वारा रचित होता है। यहां यह आपत्ति हो सकती है कि ज्ञान दर्शक मात्र हो सकता है रचनाकार नहीं। किन्तु ज्ञान-प्रक्रिया में वितर्क विचार आदि के रूप में जो क्रियाएं होती हैं वे ज्ञान से जुड़े मानसिक धर्म हैं जिनमें क्रियात्मकता रहती है। तर्क-वितर्क, सम्भावना, कल्पना आदि मानसिक वृत्तियां ज्ञान की अनुग्राहक वृत्तियां हैं जिनके बिना ज्ञान सिद्ध नहीं होता। किन्तु ये सभी प्रक्रियाएं जब प्रतीयमान् विषयमूलक अनिवार्यताओं का अनुसरण करती हैं तब उनका विषय-निरूपण वास्तविकता का पक्षपाती होता है, अन्यथा अवास्तविकता का। इस प्रकार सभी शास्त्रीय ज्ञान-विज्ञान के वादों में विकल्पात्मकता रहते हुए भी वे मिथ्या नहीं होते।

प्रतीयमान् सत्ता का अनुसन्धान, व्याख्या और निरूपण जहाँ तक प्रतीति-प्रदत्त तत्त्वों के तुलनात्मक विमर्श पर निर्भर करता है वह यथार्थता का अपलाप नहीं करता। इस प्रकार के निरूपण का विषय भी अवास्तविक नहीं कहा जा सकता। इस लिए यह कहा जा सकता है कि अस्तित्व का प्रथम और मूल लक्षण उसका प्रतीति-सिद्ध अथवा प्रतीति-प्रदत्त होना है। जहाँ यह विषय का प्रतीतिगत निरूपण यथार्थता का उल्लंघन नहीं कर अपने से स्वतन्त्र ऐसे विषय की प्रतीति को लक्षित करता है जो शब्द और विकल्प अथवा और किसी संकेत एवं किसी मानसिक रूप पर निर्भर नहीं करती, प्रत्यक्ष प्रतीति-सम्बद्ध ही होता है। मानसिक चेतना से स्वतन्त्र और साक्षात् या परम्परया प्रत्यक्ष के योग्य होना विषय का अस्तित्व कहा जा सकता है। प्रत्यक्षयोग्यता अथवा जनकता के रूप में अस्तित्व मानवीय चेतना से बाहर प्राकृतिक अस्तित्व है। इस प्रकार का अस्तित्व अपने प्रति सचेत नहीं है, उसका ज्ञान दूसरे को

होता है किन्तु वह उस ज्ञान का नियामक हेतु बनता है। इस अस्तित्व का स्वगत लक्षण उसकी कारित्र-युक्त विशेषता से निष्पन्न होता है। विषयता और कारित्र से युक्त यह प्राकृतिक अस्तित्व या सत्ता मानव-व्यवहार में साधक और बाधक सिद्ध होती है। प्रतीति जिस अस्तित्व का आभास देती है उसमें वास्तविक-अवास्तविक का विवेक नहीं रहता। प्रत्यक्ष-योग्य व्यावहारिक सत्ता मानव-चेतना से स्वतन्त्र कार्य-कारण-भाव से प्राकृतिक सत्ता है। यह सत्ता मानव-चेतना से स्वतन्त्र है किन्तु स्वयं अचेतन और नियम-परतन्त्र है। क्रियात्मक क्रियाओं का प्रवाह होने से इसमें सामान्य निरूपित नियम किस प्रकार व्याप्त होते हैं, यह एक पहेली है। अलग-अलग असंख्य वस्तुएं, जो होते ही नष्ट हो जाती हैं–कैसे व्यापक और स्थिर नियमों का उदाहरण बनती हैं, यह प्रश्न दुर्निवार है। क्षणिक विशेषों से नियम और सामान्य सिद्ध नहीं हो सकते, वे चेतना-सापेक्ष तत्त्व हैं। इस प्रकार व्यावहारिक वस्तु-सत्ता अपने से अतिरिक्त किन्तु अपने नियामक तात्त्विक अस्तित्व की सूचना देती है। आभास, वस्तु और तत्त्व ये तीन अस्तित्व के भेद एक-दूसरे के पूरक किन्तु अतिक्रामी स्तर हैं आभास अपने हेतु के रूप में वस्तु-सत्ता की सूचना देता है, वस्तु-सत्ता अपने सनातन हेतु के रूप में तत्त्व की सूचना देती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वतन्त्रता ही अस्तित्व का पारमार्थिक लक्षण है। ज्ञान अपने नियामक स्वतन्त्र अस्तित्व की सूचना देता है। जैसे-जैसे ज्ञान पूरा होता है वह अस्तित्व की स्वतन्त्रता को एक असमंजस के द्वन्द्व में पड़ा पाता है। एक ओर अस्तित्व अचेतन और परतन्त्र क्रिया-प्रवाह है, प्रकृति की कोई भी सत्ता न अपने को जानने में स्वतन्त्र होती है न अपने को बनाने में। जो मानव-चेतना को स्वतन्त्र प्रतीत होती है वह प्रकृति पूर्णतया परतन्त्र सिद्ध होती है। दूसरी ओर वस्तु की नियमात्मकता जिस तात्त्विक अस्तित्व में है वह ज्ञान-निरपेक्ष नहीं हो सकता, भले ही वह ज्ञान मान्व-चेतना की वृत्ति या घटना न हो। वह अस्तित्व की स्वतन्त्रता और स्वप्रकाशता के आदर्श को प्राप्त करना चाहता है। किन्तु मानव-ज्ञान के विषयभूत विश्व में ज्ञान का यह आदर्श चरितार्थ नहीं होता। वस्तुत: अस्तित्व या अस्ति का भाव अनेक स्तरों पर चरितार्थ दीखता है पर यह चरितार्थता अपूर्ण रहती है। प्रतीति मात्र में विषय के अस्तित्व का आभास मिलता है। आभास में अस्तित्व या तो एक असम्बद्ध प्रकार होता है या एक सम्भाव्य प्रकार। प्रतीति मात्र का गोचर-विषय अपने अस्तित्व को आभासमान् या सम्भाव्यमान् प्रकार के रूप में प्रकट करता है। ऐन्द्रिय संवेदन में विषय के अस्तित्व का न केवल प्रकार सघन रूप से प्रकाशित होता है प्रत्युत उस की स्वतन्त्र सत्ता का भी पता चलता है। संवेदन का विषय स्पष्ट ही संवेदन पर निर्भर नहीं करता और उसका अस्तित्व क्रियात्मक प्रवाह के रूप में देशकाल में नियतरूप से व्यवस्थित मिलता है। संवेदन का विषय सत्तात्मक अस्तित्व से विशेषित होता है पर सत्ता संवेदन से स्वतन्त्र होते

हुए एवं उसका हेतु होते हुए भी नियम-परतन्त्र है। ये नियम सत्ता से विशिष्ट विशेष विषयों में निदर्शित होते हुए भी स्वयं ज्ञान से पृथक् नहीं किये जा सकते। इस प्रकार प्रतीयमान् रूप, क्रियात्मक सत्ता और बुद्धिगोचर तत्त्व इन तीन पृथक् आयामों में अस्तित्व-रूप का भाव पूरा होता है।

अस्तित्व की यह विभक्त और अपूर्ण स्थिति इस कारण है कि हम अस्तित्व को विषय-धर्म के रूप में ही देख रहे हैं, किन्तु अस्तित्व के साथ ही हमें अस्मिता की भी प्रतीति होती है। यह है, मैं जानता हूँ कि यह है, यह मैं हूँ इन तीनों प्रतीतियों में होने का भाव प्रकट होता है। 'यह है' में विषय के ज्ञान से स्वतन्त्र और ज्ञान की नियमात्मकता के रूप में, किन्तु स्वत:परतन्त्र रूप में अस्तित्व का पता चलता है। 'मैं जानता हूँ कि यह है' में अस्तित्व के प्रकारों का पता चलता है, 'मैं हूँ' में इस प्रतीति में होने के सार का पता चलता है और 'वह है' में स्वप्रकाशता एवं अनिषेध्यता का। 'मैं' की प्रतीति में अपने को जाना जाता है और उसका किसी भी तरह से निषेध नहीं किया जा सकता।

इस तरह अस्तित्व का बोध विषयगत, ज्ञानगत और आत्मगत इन तीन रूपों में होता है। विषयगत रूप में अस्तित्व की प्रतीति परतन्त्र रूप से आभासित होती है। संवेदनात्मक प्रतीति के विषय और उसके हेतु के रूप में व्यावहारिक अस्तित्व की उपलब्धि होती है। इस अस्तित्व के नियामक तत्त्वों के रूप में विषयगत अस्तित्व पुन: ज्ञान के सन्निकट हो जाता है, ज्ञान का विषयपक्ष आभास से लेकर तत्त्वबुद्धि तक विस्तृत है। इस विस्तार के अन्दर अस्तित्व भी कालिक और अकालिक, आपातत: स्वतन्त्र पर वस्तुत: सामान्य-विशेषात्मक रूप से प्रकट होता है। वह सर्वत्र ज्ञान से स्वतन्त्र अपने स्वभाव से लक्षित होकर भी स्वयं अप्रकाशित रहता है।

यहां इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि नाना स्तरों और प्रकारों में विभक्त अस्तित्व में क्या कोई एक समान धर्म नहीं है? क्या सर्वव्यापी अस्तित्व अपने-आप में कुछ नहीं है? इस प्रश्न पर दार्शनिकों में बहुत मतभेद है। कुछ निर्विशेष सत्ता को परम तत्त्व मानते हैं। पर वे या तो यह स्वीकार करते हैं कि सत्ता में इन सभी विशेषों को व्यक्त करने की सम्भावना रहती है या वे मानते हैं कि परम सत्ता सभी विशेषों की प्रतीति का अधिष्ठान मात्र है। कुछ सत्ता को सविशेष रूपों में ही स्वीकार करते हैं। उनके मत में सत्ता संवेद्य गुणों और क्रियाओं से युक्त भौतिक सत्ता मात्र है। जो अतीन्द्रिय पदार्थों को मानते हैं वे गुण और क्रियाओं से लक्षित द्रव्य सत्ता को अतीन्द्रिय भी स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म में रहने वाला जातीय सामान्य स्वीकृत होता है। किन्तु इस प्रकार के सत्ता-सामान्य का बोध अतीन्द्रिय द्रव्य की सत्ता मानने पर ही सम्भव है। ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय पदार्थों में समानता देखने वाली बुद्धि विकल्पात्मक ही हो सकती है।

सत्ता के विषय में तीन विकल्प प्रस्तुत हैं–सत्ता परम तत्त्व और हेतु है, सत्ता भौतिक पदार्थों का व्यापक धर्म है किन्तु निर्विशेष नहीं है, सत्ता एक जातीय सामान्य है। निर्विशेष सत्ता के विषय में संशय उठाया गया है कि निर्विशेष सत्ता और निर्विशेष शून्यता में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। किसी न किसी अवच्छेदक के द्वारा ही अस्तित्व बतलाए जा सकते हैं और वे एक-दूसरे के प्रतियोगी होते हैं। स्थूल के रूप में जिस अस्तित्व का पता चलता है वह पुष्पत्व धर्म से अवच्छिन्न है, उसकी सत्ता अन्य सत्ताओं से पुष्प होने के कारण अलग है। जिन सत्ताओं में पुष्प होने की विशेषता नहीं है उनमें पुष्प के अभाव की प्रतीति होती है। इस प्रकार सत्ता की प्रतीति सविशेष और अवच्छिन्न होती है। प्रत्येक सत्ता सीमित होने के कारण अन्य सत्ता का निषेध करती है। सत्ता और असत्ता, अस्तित्व और नास्तित्व, भाव और अभाव सापेक्ष धर्म हैं और किसी न किसी रूप में साथ रहते हैं। इन युक्तियों का निष्कर्ष यह है कि निरपेक्ष और निर्विशेष रूप से अस्तित्व और नास्तित्व का कोई अर्थ नहीं है। जब हम अस्तित्व या नास्तित्व का कथन करते हैं तो हम वस्तुतः अधूरे शब्दों का प्रयोग करते हैं, क्योंकि अस्तित्व सदा ही किसी का अस्तित्व होता है और नास्तित्व किसी का नास्तित्व।

इन युक्तियों में अस्तित्व और नास्तित्व के स्वरूप की व्याख्या अधूरे ढंग से मिलती है। अस्तित्व और नास्तित्व विषयों के तुलनात्मक और सापेक्ष धर्म ही नहीं हैं, उनका अपना विशिष्ट स्वरूप भी है। घट और पट का भेद अवश्य ही इस कारण है कि एक दूसरे के व्यावर्तक धर्म यही हैं और इस प्रकार उनका पारस्परिक अभाव उनके सम्बन्ध को बतलाता है–जैसे भेद के रूप में अभाव दो धर्मियों का सम्बन्ध है ऐसे ही किसी धर्म से विशेषित होने पर धर्मी का उस रूप में अस्तित्व कहा जा सकता है। किन्तु किसी देश-काल में कोई वस्तु है अथवा नहीं, यह उस वस्तु का उस देश-काल से विशिष्ट अस्तित्व उस वस्तु का अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं है।

'यहाँ इस समय घट नहीं है', का अर्थ यह नहीं है कि यहाँ इस समय विद्यमान सब वस्तुएं घट से भिन्न हैं। इसका अर्थ है कि यहां इस समय घट का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार घट के नष्ट होने पर घट के जिस अभाव को हम कहते हैं वह एक सर्वथा अपूर्ण घटना है। वह घट और अन्य पदार्थों का सम्बन्ध मात्र नहीं है, न वह घट का किसी देशकाल में अभाव मात्र है। वह घट का सभी भावी कालों में अभाव है। इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि सत्ता और उसके अभाव का सम्बन्धों में अथवा अन्य धर्मों में विलयन नहीं किया जा सकता। जो हेतु मिलकर घट को उत्पन्न करते हैं वे उसे सत्ता भी प्रदान करते हैं, किन्तु घट की सत्ता में अन्य धर्मों का समाहार नहीं है, न ही वह घट के अवयवों की सत्ता है। अवयवी के रूप में घट की सत्ता कारण-सामग्री से उत्पन्न होती है। इस सत्ता की पहचान जिन धर्मों से होती है वे उसके स्वरूप को बताकर उस

स्वरूप की तात्कालिक अभिव्यक्ति को बताते हैं। फूल के अस्तित्व का पता कभी उसकी सुगन्ध से चलता है, कभी उसके रंग-रूप से, कभी उसके स्पर्श से पता चलता है। किन्तु फूल का अस्तित्व होने पर ही इन गुणों का अस्तित्व होता है। उन गुणों का अस्तित्व अपने अलग-अलग रूपों में पुष्प के लिए अस्तित्व का ज्ञापक होता है उसके अस्तित्व से अभिन्न नहीं होता। इस विचार से यह स्पष्ट होता है कि जिस किसी पदार्थ में अस्तित्व होता है वह उसके अन्य धर्मों से पृथक् होता है।

हम किसी पदार्थ की कल्पना करें और उस कल्पना में उसके सभी संवेद्य धर्मों का निवेश करें तो भी वह कल्पना ही रहेगी। हम कल्पना से किसी पदार्थ के रूप की वास्तविकता नहीं बता सकते। वास्तविक होने के लिए उसे सत्ता की आवश्यकता है और सत्ता मन से नहीं गढ़ी जा सकती। वह पदार्थ की मन से स्वतन्त्रता है और देशकाल में अवस्थित होने पर वह व्यावहारिक अस्तित्व या सत्ता मानी जाती है। अस्तित्व या भाव विषय की मन से स्वतन्त्रता है, सत्ता अस्तित्व का देशकालगत संवेद्य रूप है, चाहे वह अस्तित्व प्रतीति के स्वतन्त्र विषय रूप में हो। अर्थात् सभी विकल्पों में अस्तित्व सविशेष और स्वभावनियत रहता है। आभासिक अस्तित्व तात्कालिक और अन्यविसंगत किन्तु स्वसंवेद्य प्रत्यय से संलग्न रहता है, उसकी विशेषता या संगत आकार, जिसे स्वलक्षण भी कहा जा सकता है, सविषयक, संवेदन में स्फुट होता है। आभासिक अस्तित्व का स्वभाव किसी अन्य की तुलना के बिना अपने आप में तात्कालिक रूप से प्रकट होता है। यह सम्भव है कि आभासों की स्मृतिगत शृंखला एक अनोखे विश्व का परिचय दे, जैसे स्वप्न में होता है या जैसे **एलिस इन वण्डर लैंड** में वर्णित है। आभासिक सत्ता यदि ऐन्द्रिय संवेदन का विषय होती है तो उसमें अन्य-सापेक्ष रूप से तुलनात्मक विकल्प के द्वारा स्थिर स्वभावों की प्रतीति होती है। संवेदनात्मक आभास में सूचित इन स्थिर स्वभावें से नियत अस्तित्व वस्तुगत या वास्तविक कहा जाता है। यह वस्तुसत्ता जिन व्यापाक आकारों से अवच्छिन्न रहती है उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण काल है। यह वस्तु-सत्ता की विशेषता है कि वह एक काल-प्रवाह में रहती है। वह न होकर उत्पन्न होती है, कुछ देर बनी रहती है, होकर नहीं रहती। उसका होना-न होना नियमानुवर्ती होता है। इन नियमों का अस्तित्व बुद्धिगोचर, सत्ताव्यापी किन्तु स्वयं सत्ता से रहित होता है।

यह स्पष्ट होगा कि सभी अस्तित्व सामान्य प्रकार के प्रस्तार के अन्दर रहते हैं। जो भी अस्तित्व से युक्त है उसकी अपनी कुछ विशेषता रहती है और कुछ अन्य पदार्थों से समानता। अस्तित्व स्वलक्षण और सामान्य लक्षणों से परिभाषित होता है। सत्ता के रूप में अस्तित्व कालिकता से विशेषित होता है, अर्थात् काल-सापेक्ष अस्तित्व सत्ता होती है। काल-निरपेक्ष किन्तु तर्क-संगत के रूप में अस्तित्व तत्त्व कहे जाते हैं। ये रूप सामान्यात्मक और सम्भाव्य होते हैं।

अस्तित्व के इन रूपों में निर्विशेष सत्ता के रूप का पता नहीं चलता। ऊपर जो सत्ता-सामान्य की चर्चा की गयी थी और जिसका द्रव्य, गुण और कर्म से भेद किया गया था उस सत्ता को अविलाप्य या अविश्लेष्य धर्म मानने पर उसका पृथक् ज्ञान कैसे होगा, यह पता नहीं चलता। घट था, अब नहीं है–इसकी सत्ता का नाश हो गया। किन्तु अखण्डित या खण्डित घट का पता चलता है। उसकी सत्ता या असत्ता का अलग से पता नहीं चलता। यह सही है कि जहाँ घट है वहां उसकी सत्ता का पता चलता है, जहाँ वह नहीं है वहां उसकी असत्ता का। किन्तु यह बात बनी रहती है कि घट की सत्ता का पता घट के रूप में होता है। फलत: द्रव्यादि में रहने वाली सत्ता निर्विशेष नहीं होती। अर्थात् सत्ता सामान्य का कोई निर्विशेष स्वरूप नहीं होता। इससे यह पक्ष भी समर्थित होता है कि नि:सत्ता या अभाव का कोई अपना स्वरूप नहीं है। वह किसी बुद्धिगत भाव का प्रत्यक्ष विषय में निषेध मात्र है। भेदात्मक अभाव के विषय में यह निर्विवाद है किन्तु इसमें यह पूर्वाभ्युपगत है कि सत्ता विषय-पर्यवसायी भी है। सच्चे ज्ञान का विषय होना और काल की प्रतीति से जुड़ा होना, ये दो अस्तित्व के लक्षण निर्गलित होते हैं। सच्चा ज्ञान क्या है, इसका विचार आगे किया जाएगा। किन्तु यदि ज्ञान को सच्चा मानते हैं तो उसके विषय के अस्तित्व के ज्ञान को मानना होगा और यह कि वह किसी न किसी रूप में सच्चे ज्ञान का विषय हो सकता है। यदि ज्ञान ऐन्द्रिय संवेदन हो तो उसके विषय का अस्तित्व देशकाल में नियत घटना-प्रवाह के रूप में पता चलता है।

इस सत्ता-रूप अस्तित्व के नियत स्वभाव पर विचार करने से उसके नियामक तत्त्वों का पता चलता है। अस्तित्व के इन तीनों अर्थों में ज्ञान की नियत विषयता और ज्ञान की हेतुता के रूप में अस्तित्व का भान होता है किन्तु उसके अन्दर द्वय का रूप्य पता चलता है। अस्तित्व एक ओर ज्ञान के प्रकार में प्रकाशित होता है तो दूसरी ओर वह एक स्वायत्त घटना के रूप में प्रकाशित होता है। दूसरे शब्दों में, अस्तित्व में आकार और घटनात्मक सत्ता, नित्य तत्त्व और अनित्यता जुड़े रहते हैं। होना और न होना साथ-साथ पता चलते हैं–ज्ञानीय आकार की दृष्टि से भी और घटनात्मक सत्ता की दृष्टि से भी। जैसा एक पदार्थ है वह अन्य पदार्थों से भेद की प्रतीति के साथ पता चलता है, घट की प्रतीति में अन्य घटों से उसका भेद पता चलता है। ऐसे ही किसी पदार्थ के होने के कारण पता चलने में उसके बदलने का और न होने का ज्ञान भी होता है। अस्तित्व एक ओर ज्ञान से जुड़ा हुआ है, दूसरी ओर काल से, एक ओर सामान्य है, दूसरी ओर विशेष।

किसी भी विषय का अस्तित्व उस विषय के ज्ञान-गम्य धर्मों के रूप में ही पता चलता है। इन धर्मों में प्रत्यक्ष-योग्य धर्म अथवा उनके हेतुओं के अतिरिक्त कुछ पता नहीं चलता। किन्तु पदार्थ के अस्तित्व को उसके विशेष गुणों में या सम्बन्धों में पूरी

तरह से विश्लेषित नहीं किया जा सकता। इस परिस्थिति में दो विरुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण जन्म लेते हैं। एक सत्ता को क्रियाशीलता ही मानता है, इस प्रकार वह सत्ता को द्रव्य-सत्ता अथवा घटना-क्षण मानता है। दूसरा सत्ता की अवार्य प्रतीति पर विचार कर उसे एक सर्वव्यापी परम तत्त्व मानता है। सत्ता और असत्ता के प्रत्ययों को छोड़कर किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं है। जब भी हम कुछ जानते हैं हमें उसमें एक प्रकार से अस्ति और प्रकाशन के साथ नास्ति का ज्ञान होता है। जो कोई विषय सत्तावान् प्रतीत होता है वह नाशवान् भी प्रतीत होता है। जो विषय अविनाशी माने जाते हैं वे या तो अवयवी या प्रवाह के रूप में स्थायी होते हैं अथवा उनमें वस्तु-सत्ता होती ही नहीं। मनुष्य या पर्वत अवयवी के रूप में स्थिर प्रतीत होते हैं किन्तु उनके अवयव बदलते रहते हैं और उनका विघटन अनिवार्य है। भौतिक पदार्थ भौतिक तत्त्वों के संयोग से बनते हैं और उनके वियोग से नष्ट हो जाते हैं।

भौतिक तत्त्व जिन अणु-परमाणुओं से बने होते हैं वे द्रव्य और ऊर्जा के संघटन की क्षणिक क्रियाओं के रूप में मिलते हैं। परमाणुओं का जीवन-काल इतना अल्प होता है कि वे दार्शनिकों के क्षण के समान प्रतीत होते हैं। तो भी भौतिक सत्ता परिणामशील होते हुए भी किसी मात्रा में भी विशेषतया नष्ट या विलुप्त नहीं होती। द्रव्य-ऊर्जात्मक प्राकृत सत्ता की अविनाशिता विज्ञान का एक मूल सिद्धान्त है। इस दृष्टि से सत्ता का अस्तित्व देश-काल में अवस्थित क्रिया-समर्थ द्रव्य-सत्ता होती है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य विषयों की स्वतन्त्र हेतु होती है। बाहरी सत्ता के विच्छिन्न-अविच्छिन्न होने के कारण ज्ञान भी विभक्त-अविभक्त विषयों का होता है और ज्ञान की साधनभूत भाषा भी पदों और वाक्यों को जोड़कर अर्थों का निरूपण करती है। विषयों को विच्छेदन और संधान के द्वारा ही समझते हैं। इनमें भाव या अभाव के किसी एक पक्ष को मौलिक या स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। जिसकी सत्ता की प्रतीति उसके विनाश से स्पष्ट हो जाती है उस सत्ता की पहले भी प्रतीति न केवल उसके न होने से उत्पन्न होती है प्रत्युत निरन्तर क्रिया के द्वारा बदलते रहने से होती है। जिस द्रव्य में किसी प्रकार की क्रिया या परिवर्तन नहीं होगा उसका जन्म या विनाश भी नहीं होगा। ऐसी कोई द्रव्य-सत्ता नहीं हो सकती। कुछ विचारक द्रव्यों में आपेक्षिक स्थिरता देखकर उसकी परिवर्तनशीलता को या क्रियाशीलता को निरन्तर नहीं मानते, किन्तु यह निरीक्षण और मान की स्थूलता के कारण है। अतित्व और नास्तित्व का एक वैचारिक या तार्किक सन्दर्भ है जिसमें इन पदों का प्रयोग धर्म और धर्मी के सम्बन्ध के प्रतिपादन के लिए होता है। जिनके सम्बन्ध का विधान या निषेध होता है वे अपने आप में वास्तविक हों यह आवश्यक नहीं। धनिया होरी की पत्नी थी यह सही है, रावण के बीस हाथ थे यह भी सही है, किन्तु धनिया होरी या रावण को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। होरी या धनिया कवि-सर्जना के अकालिक

निवासी हैं जो वस्तुजगत् की कुछ सम्भावनाओं के संकेत हैं, उस वस्तु-जगत् के अंग नहीं।

रावण एक आध्यात्मिक रूपक है और उसके बीस हाथ एक लाक्षणिक प्रयोग। यहाँ भी वस्तु-जगत् के आध्यात्मिक मूल्यांकन के लिए सनातन और अवास्तविक संकेत हैं। दूसरी ओर अस्तित्व-बोध प्रत्यक्षगोचर कर्म-जगत् में होता है। इस सन्दर्भ में अस्तित्व कालगत क्रिया-समर्थ सत्ता के रूप में जाना जाता है। सत्तावान् वस्तु को इन्द्रियों से उपलब्ध किया जा सकता है। वह कर्म की साधक या बाधक होती है। यह केवल कल्पना या तर्क का क्षेत्र नहीं है प्रत्युत शारीरिक और ऐन्द्रिय उपलब्धि और कर्म का क्षेत्र है, जिसमें वस्तु ज्ञाता को अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं प्रभावित करती है। 'यहाँ आग जल रही है', इसका अर्थ है कि यहाँ जला सकने की शक्ति जागरूक है, उसे हम उपलब्ध कर सकते हैं, वह उपयोग और परिवार्जन की वस्तु है। वस्तु-सत्ता केवल मननीय या भावनीय नहीं है, वह शब्दार्थ या विकल्प मात्र नहीं है, वह एक ज्वलन्त, तात्कालिक सत्य है।

अस्तित्व के दो पक्ष हैं जो उस बिन्दु पर पड़ते हैं जहां वस्तुसत्ता के असंख्य विशेष बुद्धिगोचर सामान्य तत्त्वों से नियत प्रतीत होते हैं। तात्कालिक विशेष अकालिक सामान्यों के दृष्टान्त बनते हैं या कि अकालिक सामान्य तात्कालिक सामान्य की व्यावृत्तियाँ हैं, यह संशय प्रबल होने पर भी असमाधेय नहीं है। वस्तुओं के नियत सम्बन्ध जिन धर्मों से अविच्छिन्न रहते हैं उन धर्मों के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध ही मानना होगा। अर्थात् वस्तुगत नाना स्वभाव उन वस्तुओं के व्यापक स्वभाव से नियत हैं। ये व्यापक स्वभाव न कालिक हैं न अवास्तविक। सभी पिण्ड एक-दूसरे को खींचते हैं, इस नियम का आधार जिस पिण्डगत स्वभाव में है उसका पिण्डों के विश्लेषण से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। पिण्डों की सापेक्ष गति देख कर ही उसका अनुमान होता है। 'सभी प्राणी जिजीविषा से चेष्टावान् होते हैं' यह प्राणमूलक चेष्टा का प्रत्यक्ष होते हुए भी इसकी प्राणमूलकता का प्रत्यक्ष नहीं होता। निष्प्राण वस्तुओं का भेद ठीक उसी प्रकार से पता नहीं चलता जैसे जीवों की चेष्टाओं का। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु-सत्ता केवल अचेतन, भौतिक सत्ता नहीं है, न उसका तत्त्व केवल संख्याओं के गणित में है। वस्तुत: वास्तविक विषय केवल जड़ विषय नहीं हैं, उनमें चेतन विषय भी हैं। चेतन विषय विषयी भी होते हैं।

अभी तक हमने अस्तित्व के तीन अर्थों का विवेचन किया है। पहला प्रकार है जिससे ज्ञान के विषय जाने जाते हैं, दूसरा सत्ता, जो प्रत्यक्षगोचर विषयों का धर्म है, तीसरा तत्त्व, जो वस्तु-सत्ता का सार है और स्वयं बुद्धिगोचर है। इनमें पहले का कुछ और विवेचन अपेक्षित है। किसी भी विषय का ज्ञान उसके अस्तित्व को किसी न किसी प्रकार से विशेषित करता है। इन प्रकारों में कुछ मूलभूत और व्यापक प्रकार

होते हैं जिनके लिए अनादिकाल से मानवीय भाषा में अलग-अलग कोटियां बनी हुई हैं। अतएव अस्तित्व के इन मौलिक प्रकारों को शब्दार्थ की आधारभूत कोटियां या पदार्थ के भेद या मूल-विकल्प कह सकते हैं। शब्दों के प्रकारों का विश्लेषण अर्थों के प्रकारों का ज्ञान कराता है। संज्ञा-शब्द द्रव्य के वाचक होते हैं एवं जाति और सामान्य के भी। विशेषण गुणवाची होते हैं, इन गुणों में सम्बन्ध भी अन्तर्भुक्त होते हैं, अथवा सम्बन्धों को पृथक् रूप से भी कहा और समझा जा सकता है। यह विश्लेषण की दृष्टि पर निर्भर करता है। क्रिया पद अस्तित्व के कालिक आयाम में गृहीत सत्ता को बतलाते हैं।

द्रव्य, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, सामान्य, विशेष और अभाव ये सात अस्तित्व के प्रकार या पदार्थ सुविदित हैं किन्तु ये अस्तित्व के स्वगत, पारमार्थिक प्रकार नहीं हैं। ये प्रतीयमान् अस्तित्व के विश्लेषण की लचीली कोटियां हैं। अनुभवगोचर पदार्थों का नाना सन्दर्भों में नाना परिप्रेक्ष्यों से विश्लेषण किया जा सकता है। सामान्य और विशेष की आपेक्षिकता का ऊपर उल्लेख किया गया था। क्या कोई अन्त्य विशेष है? किसी जाति के विभिन्न व्यक्तियों का मौलिक भेद उनके उपादान के भेद से किया जा सकता है। किन्तु परमाणुओं के रूप में जो अन्तिम उपादान है उनका भेद किस प्रकार किया जाएगा? उनका एक विभाजन तो देश और काल की अवस्थिति से हो सकता है। किन्तु एक देशकाल में एक ही परमाणु हो या एक ही परमाणु एक ही देशकाल में हो ऐसा कोई नियम सिद्ध नहीं किया जा सकता, भले ही उसे स्थूल ज्यामितीय कल्पना के अनुसार मान लिया जाए।

ऊर्जा की तरंगों के रूप में मूल उपादान में भेद करना कठिन कार्य है। यदि सत्तावान् वस्तु को उसके सभी धर्मों से अलग कर दिया जाए तो क्या उसका बना रहना मान सकते हैं? धर्म के बिना धर्मी की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए यदि दो धर्मी सर्वथा समान धर्मा हैं और निरयव हैं और उनका देशकाल में भी भेद नहीं है तब उनका भेद किस प्रकार बताया जा सकता है? ऐसी वस्तुओं में एक से अधिक संख्या का प्रयोग कैसे होगा? बहुवचन के प्रयोग के लिए साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर समाहार या वर्ग की सामुदायिकता या सदस्यता की कल्पना आवश्यक है। संख्या-भेद के लिए किसी समान धर्म को लिए हुए किन्तु पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के समुदाय की आवश्यकता होती है। संख्या-भेद वहीं संभव है जहां सामान्य और विशेष से युक्त विषय हों।

इस प्रकार वस्तु-धर्म निरपेक्ष विशेषता या पृथक्ता नहीं हो सकती और न किसी अन्तिम विशेष की कल्पना की जा सकती है जो कि सर्वथा स्वलक्षण हो। जिस किसी भी अविश्लेष्य विशेष गुणों से कोई वस्तु पहचानी जाए उसे अन्य सधर्मियों के साथ रखकर उसके पार्थक्य का आधार आकार, उपादान, मात्रा, देश-काल आदि में

अवस्थित लक्षित किया जा सकता है। इन सबसे अनोखा विशेष नाम का धर्म उतना ही रहस्यमय है जितनी विशुद्ध सत्ता या विशुद्ध द्रव्य। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि दो वस्तुओं को अलग मानने की कसौटी है कि दोनों अलग-अलग काल-धाराओं के अंतर्गत हों। काल-धारा से मेरा तात्पर्य सर्वाधार के रूप में कल्पित सर्व-साधारण काल से नहीं है प्रत्युत प्रत्येक क्रिया-प्रवाह के क्षणों और क्रम से है। यह कहना सम्भवत: अधिक उपयुक्त होगा कि प्रत्येक वस्तु अपने पृथक् कार्य-कारण प्रवाह के अंतर्गत है। उसकी सत्ता उसकी पृथक् कारण-सामग्री से निर्धारित होती है। अन्ततोगत्वा यह सामग्री वस्तु के उत्पत्तिक्षण के ठीक पूर्व का क्षण होता है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार एक प्रति-विशिष्ट क्षणों के क्रम में रखा जा सकता है जिसमें वह उत्पन्न और विनष्ट होती है।

वस्तु का जीवन-काल कितना है—एक क्षण, दो क्षण, तीन क्षण या अनियत? वस्तु क्षणिक है अथवा वह क्षणों का एक नियत प्रवाह है, अथवा वह सापेक्ष रूप से न्यूनाधिक काल तक बनी रहती है, या एक घटना मात्र है, एक क्रिया मात्र अथवा वह क्रियाओं का यथायोग्य आधार है, इन प्रश्नों पर आगे विचार किया जाएगा। इस समय इतना ही प्रासंगिक है कि वस्तुओं की पृथक् और विशेष सत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि उनके उत्पादक अलग-अलग होते हैं। इस कारण उनके विनाशक भी अलग-अलग होते हैं। एक वस्तु के उत्पन्न होने से दूसरी उत्पन्न नहीं होती, न एक वस्तु के नष्ट होने से दूसरी वस्तु नष्ट होती है। जैसे ज्ञान नानात्व का कारण होने से विषय-नानात्व होता है, ऐसे ही उत्पत्ति और नाश के कारण अलग होने से एक सत्ता दूसरे से भिन्न होती है।

विषयों और वस्तुओं में भेद और उसके कारण के रूप में विशेषता तो इस प्रकार सिद्ध होती है किन्तु इन विशेषताओं को कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं माना जा सकता। यही मानना होगा कि प्रत्येक विषय और प्रत्येक वस्तु की अपनी विशेषता होती है, और ये विशेषताएं उतनी ही होती हैं जितनी वस्तुएं या विषय। अंतिम विशेष को ज्ञानजनक अथवा वस्तुजनक हेतु से अतिरिक्त नहीं समझा जा सकता।

जहाँ ज्ञान के विषय अपने अलग-अलग लक्षणों से पहचाने जा सकते हैं वहां यह एक सहज अभिनिवेश या भाषा-मूलक पूर्वमान्यता है कि लक्षण या लक्ष्य धर्म और धर्मी में मौलिक या कोटिगत अन्तर किया जाना चाहिए। एक ही धर्मी में अनेक धर्म पता चलते हैं। जो गुलाब लाल है वही सुगन्धित है और कोमल है, वही तितलियों को आकृष्ट करता है और एक विशेष जाति के पौधे में पैदा होता है। गुलाब एक ऐसी वस्तु है जिसमें अनेक गुण और क्रियाएं और जाति रहती है। इस वस्तु-सत्ता को अलग-अलग धर्मों का पुंज नहीं माना जा सकता, यद्यपि सब धर्मों को अलग करने पर कोई आधारभूत धर्मी उपलब्ध नहीं होता। गुणों के बिना द्रव्य नहीं रहता, बस इतना

ही। ऐसा होने पर भी गुणों का समूह नियमबद्ध होता है, और यह नियम उन गुणों में अलग-अलग नहीं रह सकता। लाल गुलाब में सुगन्ध रहती है, न कि दुर्गन्ध, इसके पौधे में कांटे रहते हैं किन्तु फूल में कोमलता रहती है। अलग-अलग गुणों को जो हेतु नियम से जोड़ता है वही उनका आधार कारण द्रव्य कहलाने योग्य है। इस प्रकार द्रव्य और गुण में भेदाभेद सम्बन्ध प्रतीत होता है। जो स्थिति गुणों की है वही क्रिया की है। क्रियाएं किसी न किसी आधार में प्रकट होती हैं, उन्हें किसी वस्तु के परिवर्तनों का क्रम समझा जा सकता है। परिस्पन्द और परिणाम सत्ता के सामान्य स्वभाव का निर्वचन करते हैं। चिरकाल से जगत् का मानवीय बोध भाषा के द्वारा व्यक्त होता रहा है। शब्दों के और उनके प्रयोग के प्रकारों में वस्तु-स्वभाव की विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। भाषा की रचना और ज्ञान की रचना एवं वस्तु की रचना इन तीनों में समानान्तरता का उपागम वस्तु-स्वभाव के विश्लेषण का एक प्रस्थान-बिन्दु प्रस्तुत करता है।

हम जिसे जानते हैं और जिसके विषय में कुछ कहते हैं उसमें सबसे मौलिक भेद धर्म और धर्मी का होता है। धर्मों को गुण या विशेषण, क्रिया और संबंध के रूप में प्राय: देखा जाता है। धर्मी को इन्हीं तीन प्रकार के धर्मों से विशिष्ट द्रव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि से वस्तु-सत्ता घटनात्मक और द्रव्यात्मक दोनों ही रूपों में प्रतीत होती है। जिन धर्मों से द्रव्य का स्वभाव पता चलता है उनमें कुछ इन्द्रियों के विषय हैं कुछ ऐन्द्रिय ज्ञान के बौद्धिक विश्लेषण से पता चलते हैं। ये विश्लेषण-गोचर धर्म या अपेक्षा-बुद्धि पर निर्भर धर्म सम्बन्धात्मक होते हैं। इनमें सबसे व्यापक धर्म क्रमात्मक है। एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न देश-काल से नियत रहती है, काल में सब पूर्वापर सम्बन्ध काल के प्रवाह की एक ही दिशा के अंतर्गत होते हैं। दिशा और क्रम से आकार बनता है, जो कि ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में प्रदत्त होता है। आकार और क्रम में दूरी, मान और संख्या अन्तर्निहित होते हैं। कालिक क्रम की प्रतीति देशगत क्रम की प्रतीति से नितान्त भिन्न होती है। घटनाक्रम के रूप में वस्तु की प्रतीति, क्रिया और काल की प्रतीति को जन्म देती है। काल की प्रतीति में तात्कालिक घटना और घटनाओं के क्रम का ज्ञान होता है। क्षण, वृत्तित्व और क्रम इन तीन लक्षणों से काल का पता चलता है। उसमें व्यक्तित्व या वर्तमानता उसके साक्षी के लिए एक चल-बिन्दु की तरह होता है जो कि अतीत और अनागत का विभाजन करता है। अवेक्षकों के नाना होने के कारण यह मध्य बिन्दु भी आपेक्षिक रहता है। अत: काल की प्रतीति में तीन विभागों की प्रतीति अनिवार्य होते हुए भी वे विभाग बिन्दु-सापेक्ष होते हैं। अतीत आदि का विभाग क्रिया पर निर्भर करता है। क्रिया मात्र में भी क्रमबद्ध विभाग रहता है। जो कारण चरितार्थ होकर विरत हो गया है वह क्रम में पूर्ववर्ती है, जो कार्यरत है वह वर्तमान है, जिसका कार्य आरम्भ नहीं हुआ

है वह परवर्ती और अनागत है। वस्तु में क्रियामूलक क्रम काल का सहज और वस्तुगत क्रम है, उसमें अतीत, वर्तमान और अनागत की प्रतीति सहज होते हुए भी उसके विभाजन का निर्णय चेतन द्रष्टा की अपेक्षा रखता है।

देश और काल दोनों की ही प्रतीतियों में वस्तुगत और आत्मगत अंश रहते हैं। देश में न स्वत: क्रिया-शक्ति रहती है न उसका स्वत: विषय के रूप में ज्ञान रहता है। इन्द्रय-गोचर वस्तुओं के संबंधों के द्वारा देश का ज्ञान होता है। यह सम्बन्ध वस्तु के अवयवों के बीच भी हो सकता है। देश की कल्पना प्रत्यक्ष गुणों से रहित, निष्क्रिय, नि:सीम, सर्वत्र समान शून्य आधार के रूप में होती है। देश में असंख्य प्रदेशों की कल्पना की जा सकती है। अखण्ड होते हुए भी वह यथेष्ट रूप से विभाज्य है। उसके पर्यन्त विभाग का केवल स्थान निश्चित हो सकता है। उसमें परिणाम नहीं हो सकता। उसमें असंख्य दिशाएं और अन्तराल संभव हैं। इसी प्रकार इसमें नाना आकार संभव हैं। प्रकारान्तर से कह सकते हैं कि वस्तुओं में प्रदेशवत्ता, सान्तरालता और अन्य वस्तुओं से नियत दिशा और दूरी होती है। देश को रिक्त होने के कारण आधार कैसे माना जा सकता है? किन्तु प्रत्येक वस्तु कहीं अवस्थित है, यह प्रतीति अपरिहार्य है। इसलिए देश की आधार रूप में कल्पना को छोड़ा भी नहीं जा सकता। वस्तुत: देश की प्रतीति अपनी दैहिक प्रतीति के साथ जन्म लेती है। मैं यहां हूँ, यहां से यहां तक विस्तृत मेरे सब ओर नीचे-ऊपर, आगे-पीछे, दाहिने-बाएं और स्थान हैं, इस तरह की प्रतीति मेरे साथ सदा ही रहती है—स्थल में, जल में, वायु में, आकाश में। मेरी देह कहीं है और उसके बाहर अन्य स्थान हैं, जिनमें अन्य वस्तुएं हो सकती हैं, अवस्थान, दिशा और दूरी के आपेक्षिक तत्त्वों से देश का ताना-बाना बना है, किन्तु वह चीनी सम्राट् के सोने-चांदी से बने हुए परिधान के समान शून्य है।

इन्द्रियां बहिर्मुख होती हैं और देह को केन्द्र मानकर अन्य वस्तुओं को दैशिक सम्बन्धों में अवस्थित करती हैं। जहां तक अवस्थान या किसी आधार पर टिकी होने की प्रतीति है वह वस्तुत: नित्य नहीं है, वह गुरुत्वाकर्षण के कारण होती है। शून्य में चिर अवस्थान से इस प्रतीति का लोप सम्भव है। अत: पिण्डों को आधार के रूप में किसी देश के नाम की आवश्यकता नहीं है, किन्तु तो भी बिना दैशिक विस्तार या प्रदेश-सत्ता के वस्तु-पिण्डों की कल्पना संभव नहीं है। अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहां आधार के रूप में देश की प्रतीति वस्तुनिष्ठ नहीं है, दूरी या अन्तराल के रूप में वह वस्तुनिष्ठ है। यदि वस्तु-स्वभाव से रूप-स्पर्श आदि इन्द्रिय-गोचर गुण हटा दिये जाएं तब देश का अस्तित्व भी वस्तुगत रूप से असिद्ध हो जाएगा।

काल की प्रतीति क्रिया की प्रतीति का निष्यन्द है। एक घटना बीत जाती है, दूसरी सामने आती है। इस तरह के घटनाक्रम से क्रिया का पता चलता है। घटना

गुण, अवस्था अथवा लक्षण के भेद से पता चलने वाला परिणाम है। आपेक्षिक देश-भेद से गति-रूप घटना का पता चलता है। इन दोनों ही प्रकार की घटनाओं में न होकर होना, होकर बदलना, या न होना इन तीनों लक्षणों से काल की प्रतीति होती है। यदि कोई वस्तु जैसे एक बार प्रतीत होती है ठीक वैसे ही सदा प्रतीत होती रहे। तब उसमें क्रिया-युक्त या कालिक सत्ता के कोई लक्षण नहीं मिलेंगे। नीला आकाश सदा एक सा रहता है जबकि बादल रूप बदलकर आते-जाते रहते हैं। बादल गतिशील हैं, क्रियाशील हैं, वे पैदा होते हैं, आकाश घेरते हैं, बरसते हैं, नष्ट हो जाते हैं। बादलों की सत्ता काल के अन्दर एक घटना-प्रवाह है, उनकी तुलना में नीला आकाश निश्चल और नित्य प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में नीलाकाश एक आभास मात्र है, वह वस्तु-सत्ता नहीं है। इसलिए उसमें गति या क्रिया लक्षित नहीं होती। वायु, अग्नि, जल या पृथ्वी में सदा ही किसी न किसी प्रकार की अस्थिरता लक्षित होती है। पर्वतों और शिलाओं में भी सूक्ष्म परिवर्तन होते रहते हैं। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी भौतिक पदार्थ गतिशील अणुओं के संयोग से बने हैं, उनकी प्रतीयमान स्थिरता के पीछे निरन्तर परिवर्तनशीलता है। बौद्धों ने निरन्तर परिवर्तनशीलता सिद्ध करने के लिए एक प्रसिद्ध युक्ति की उद्‌भावना की थी। यदि किसी वस्तु में सत्ता है तो वह क्रियाशील होगी। उसमें जिस क्रिया की सामर्थ्य है वह तत्काल प्रकट होकर समाप्त हो जाएगी और उसकी सत्ता भी क्षीण हो जाएगी। इस युक्ति को लेकर बहुत तर्क-वितर्क हुआ है। इसके विरोधियों ने कहा है कि सत्ता के आधार में क्रिया का रहना आवश्यक नहीं है, न सत्ता का सबूत क्रिया है, न जिस वस्तु में क्रियाशक्ति है उसका निरन्तर क्रियाशील होना आवश्यक है। जैसे वही गेंद कभी स्थिर रहती है, कभी गतिशील। कार्य करने से कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, न उसकी क्रियाशक्ति आवश्यक रूप से एक क्षण में समाप्त हो जाती है, न यही सही है कि प्रत्येक वस्तु की क्रियाशक्ति तत्काल स्वत: प्रकट हो जाती है। स्वयं बौद्ध यह मानते हैं कि कोई अकेला कारण नहीं होता, हेतु प्रत्यय सामग्री से ही कार्य होता है। बीज, भूमि, जल, धूप आदि के संयोग से अंकुर उत्पन्न होता है, भण्डार में पड़ा बीज अंकुर पैदा नहीं करता, न बीज तत्काल अंकुरित होकर नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति और विनाश भी क्रमिक रूप से समय-साध्य होते हैं। उनके मध्य में वर्तमानता की कड़ी रहती है। यदि स्थिति होगी ही नहीं तो उत्पत्ति और विनाश में अन्तर ही नहीं रहेगा।

वस्तुत: किसी पदार्थ की पहचान कैसे हो, यह विवादात्मक प्रश्न है। यदि इसकी पहचान कुछ करने से होती है तो करना ही उसकी उत्पत्ति है और न करना ही नाश। करना और भविष्य में कर सकना दो पृथक् वस्तुओं के लक्षण हैं। यदि किसी वस्तु को सदृश वस्तुओं की धारा मानें तो उनमें जो वस्तु तत्काल कार्य करती है वही

यथार्थ या यथार्थता का क्षण है, शेष अतीत या अनागत वस्तुएं हैं। कोठे में रखा बीज अंकुर के उत्पादक बीज से वैसे ही भिन्न है जैसे किसी व्यक्ति का पिता अपने पूर्वजों से।

वस्तु और क्रिया के विषय में सामान्य व्यावहारिक दृष्टि उनकी सत्ता को संघात और सन्तान के रूप में स्वीकार करती है। वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि ये स्थूल वस्तुएं अत्यन्त सूक्ष्म अवयवों में घटित होने वाली क्रियाओं पर निर्भर करती हैं। वैज्ञानिक दृष्टि क्षणभंगवाद के निकट है न कि व्यावहारिक सोच के।

सच बात तो यह है कि होने के प्रत्यय में न तो विषय होने का प्रत्यय है न क्रियावान् होने का, न उसमें यही उपलक्षित है कि जो है वह सदा होगा या वैसा ही होगा, या उसका कोई कारण होना चाहिए। होने का प्रत्यय अपने-आप में एक सपाट प्रत्यय है जिसे किसी विशेषता की आवश्यकता नहीं है। किसी विषय का होना ही उसके अन्य सब लक्षणों का आधार है। यह बात दूसरी है कि ऐसे विशुद्ध अस्तित्व का कहीं पृथक् रूप से पता नहीं चलता, किन्तु जिस किसी भी लक्षण से विशेषता का कहीं पता चलता है उसका होना ही सर्वप्रथम आवश्यक होता है। अस्तित्व या सत्ता सभी ज्ञातव्य की पहली शर्त है। सत् को विश्व का आधार, सत्ता को वास्तविकता का और अस्तित्व को सभी पदार्थों का मूल मानना ही भाषा और चिन्तन में अन्तर्निहित है। विशुद्ध सत्ता निर्विशेष महासामान्य या परमसामान्य है। ऐसा नहीं है कि विशेषों को लक्षित कर व्यावृत्ति के द्वारा उनमें अस्तित्व सामान्य का प्रत्यय उत्पन्न होता है। प्रत्येक विशेष की उपलब्धि के साथ ही उसमें व्याप्त अस्तित्व का पता चलता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि अस्तित्व का तीन रूपों में पता चलता है—एक तो ज्ञान की विषयता के रूप में, दूसरे काल के अन्तर्निहित काल के रूप में, तीसरे बुद्धिगोचर विश्व-नियामक तत्त्वों के रूप में। इस प्रकार चेतना-प्रवाह में प्रतीयमान विषय सम्भाव्य सत्ता को उजागर करते हैं। काल में प्रवहमान वस्तुएं अनित्य सत्ता को प्रकट करती हैं, विचार-नियामक तत्त्वों के रूप में अस्तित्व अकालिक और सम्भाव्य होते हुए भी कालिक वस्तु-जगत् का सार प्रतीत होता है। मानसिक स्तर पर आभास, प्रत्यक्ष के स्तर पर वस्तु-सत्ता और विचार-बुद्धि के स्तर पर सामान्य ये तीन अस्तित्व के सर्वविदित विभाग हैं। पहले में अस्तित्व के आकार-प्रकार का पता चलता है, दूसरे में उसकी वास्तविकता का, तीसरे में उसकी तात्त्विकता का। ये तीनों ही रूप नास्तित्व के प्रतियोगी हैं। तीनों ही रूपों में अस्तित्व सीमित और इसीलिए विशेष होता है। यह सीमा अस्तित्व के बुद्धि-सम्भाव्य रूपों में लक्षण-व्यवच्छिन्न होती है। तत्त्वजगत् व्यापक और व्यावर्तक लक्षणों से परिभाषित बौद्धिक पदार्थों का जगत् है। आभासिक स्तर पर सम्भाव्य अस्तित्व बिन्दुओं और मूर्तियों में प्रतिभासमान् आकार-प्रकारों का प्रवाहमात्र है। वास्तविकता या प्रत्यक्ष के स्तर पर अस्तित्व

देशकाल में परिच्छिन्न घटना-प्रवाह है। इस प्रवाह में न केवल आकार-प्रकार का परिच्छेद रहता है अपितु देश और काल का भी अवच्छेद रहता है। सत्ता-प्रवाह केवल अपने प्रवाह-तत्त्व या स्वभाव से सीमित नहीं है, वह अपनी प्रत्येक वस्तु के देश-काल से सीमित है। इस प्रकार अपोह और अवधारण, विनाश और अभाव के द्वारा सभी सविशेष अस्तित्व विधि और निषेध दोनों का विषय बनता है। सभी विशेष सत्ता में भाव और अभाव अनिवार्यतया जुड़े रहते हैं।

भाव और अभाव में कौन स्वतन्त्र और कौन परतन्त्र है यह विवाद का विषय है। आपातत: अभाव की प्रतीति भाव के निषेध के द्वारा होती है, अभाव किसी का होता है और कहीं होता है, उसका कोई प्रतियोगी और अधिकरण होता है। इस दृष्टि से अभाव परतन्त्र सिद्ध होता है। किन्तु यह प्रश्न उठता है कि निषेध का यह व्यापार क्या है, क्या निषेध को विधि का कोई रूप माना जा सकता है? केवल विधि से निषेध किसी भी प्रकार व्युत्पादित नहीं हो सकता। कुछ तर्कशास्त्री निषेध को विधि के समुच्चयात्मक और विकल्पात्मक प्रकारों से कथंचित् व्युत्पाद्य मानते हैं। किन्तु मुझे इन प्रयासों में निषेध का प्रत्यय किसी न किसी रूप में अन्तर्निहित लगता है। सभी प्रकारों के ज्ञानों में सीमा का ज्ञान प्रदत्त रहता है। देश, काल, स्वभाव तीनों ही सीमाओं के अन्दर विषय को भाव या सत्ता प्रदान करते हैं। यह अनिवार्य सीमितता ही निषेध का मूल है। भाव और अभाव समानान्तर और सह-उपस्थित प्रतियोगी सिद्ध होते हैं। सविशेष अस्तित्व सविशेष नास्तित्व भी है तो क्या भाव या अभाव के संयुक्त रूप को मूल पदार्थ मानना चाहिए?

सविकल्पक प्रत्यक्ष के सभी विषय अस्ति और नास्ति दोनों से ही विशिष्ट रहते हैं। केवल अस्तित्व और केवल नास्तित्व कल्पनीय अथवा ज्ञान के विषय हो सकते हैं यह नि:संशय नहीं प्रतीत होता। केवल सत् की सीमित सत्ता को सत्ता मात्र की अभिव्यक्ति का रूप माना जा सकता है। किन्तु यदि यह आरोप कल्पनात्मक है तो इससे सीमित वस्तु-सत्ता की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पर किसी वस्तु की सत्ता या भाव को विश्व-स्रष्टा, विश्व-मानस की कल्पना मान लिया जाए तब अशेष सृष्टि को अवच्छेद, परिसीमन या निषेध का व्यापार समझा जा सकता है। अर्थात् जो अनादि बुद्धितत्त्वों का अवधारण करती है और भाव और अभाव के सापेक्ष द्वन्द्व उद्भावित करती है उसकी कल्पना को कालिक-जगत् में सीमित वस्तुसत्ता का हेतु मानना चाहिए।

इसी तरह यह भी सोचना चाहिए कि सीमित भाव नि:सीम अभाव के आंशिक निषेध से जन्मे हैं। इस प्रकार असत् को असीमित सत्ता का मूल माना जा सकता है और निषेध के निषेध को सृष्टि का व्यापार। यह तो निश्चित हो जाता है कि सृष्टि बिना निषेध के नहीं हो सकती, सीमित भाव के मूल में असीम भाव या असीम अभाव

का निषेध रहता है। भाषा के प्रतिबन्ध के अनुसार अभाव का मूल सीमित रूप माना जा सकता है। अर्थात् विशुद्ध सत्ता पर असत्ता का आरोप भाव का निषेध है, इसलिए अभाव का मूल भाव सिद्ध होता है न कि भाव का मूल अभाव। यह भी निश्चित नहीं है कि निषेध का निषेध भाव ही होगा। इसलिए यह उक्ति प्रसिद्ध है कि असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? किन्तु जैसे विधि भाव की बुद्धि को जन्म देती है वैसे ही निषेध अभाव को बतलाता है, निषेध वचन से अभाव उत्पन्न नहीं होता। न भाव का निषेध कोई आज्ञा है जिसका पालन यथार्थ को करना आवश्यक हो। काल्पनिक निषेध से यथार्थ भाव या अभाव में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। इस प्रकार भाषा और तर्क की दृष्टि से अभाव को मूल पदार्थ मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

दूसरे, भाव मात्र को मूल पदार्थ मानने पर अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती। अत: अभाव को भाव के समानान्तर मूल पदार्थ मानना होगा। यह कह सकते हैं कि वस्तुगत स्तर पर अभाव का और भाव अभाव का अत्यन्त विरोधी नहीं है। भाव के साथ सीमित अभाव का सह-अवस्थापन सम्भव है और यही अवच्छेदात्मक निषेध सृष्टि की मूल प्रक्रिया है। इसलिए धार्मिक मत दोनों प्रकार के मिलते हैं। कुछ मानते हैं कि ईश्वर की कृपा या इच्छा से सब कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, कुछ मानते हैं कि मूल सत्ता ही जगत् के रूप में विवर्तित हुई है, कुछ मानते हैं कि विशिष्ट सत्ता से पहले की अवस्था को सत् या असत् नहीं कहा जा सकता।

वस्तुत: विषय या पदार्थ में भाव और अभाव का विवेचन विकल्प-बुद्धि की अपेक्षा रखता है। विषय-पदार्थ की रचना पर ध्यान देने से उसकी अन्तर्निहित अपरिहार्य द्वन्द्वात्मकता या आत्मविरोधिता स्पष्ट हो जाएगी। विकल्प-सापेक्ष किन्तु विषयनिष्ठ यह आत्मविरोधिता विषयों का तात्त्विक मिथ्यात्व प्रदर्शित करते हुए भी उनके व्यावहारिक सत्यत्व का प्रतिषेध नहीं करते, क्योंकि व्यवहार भी सापेक्ष होता है और विकल्प मानव-ज्ञान की अनादि प्रवृत्ति अथवा सहज रचना पर निर्भर करता है। वस्तुजगत् और विकल्प के प्रकार अनादि मानव-व्यवहार की परम्परा में अन्योन्य सापेक्षतया निर्धारित हुए हैं।

यह विषयों की द्वन्द्वात्मकता उन कोटियों पर विचार करने से उभरती है जिनके द्वारा विषयों का अवधारण किया जा सकता है। अर्थात् विषय-सत्ता के जो अनिवार्य आकार-प्रकार हैं वे सब स्व-विरुद्ध लक्षण प्रकट करते हैं। द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, काल, कार्य-कारण, भाव और अभाव इन प्रत्ययों के बिना किसी विषय की अवधारणा सम्भव नहीं है। किन्तु ये सभी प्रत्यय आत्मविरोधी हैं।

द्रव्य की प्रतीति अनेक सम्बन्धों में होती है। सविकल्पक ज्ञान में धर्म-धर्मी भाव की प्रतीति में धर्मी के रूप द्रव्य का पता चलता है। अत: अरस्तू का कहना है कि

द्रव्य सदा धर्म ही होता है, वह किसी धर्मी का धर्म नहीं होता। इसी तरह ज्ञान मात्र में जिन विशेषताओं में किसी विषय की पहचान होती है, वह उस विषय के गुण और वह विषय उन गुणों के आधार के रूप में प्रतीत होता है, गुणों का यह आधार द्रव्य माना जाता है। किसी वस्तु के ज्ञान में जब उसका परिवर्तन लक्षित होता है तो उन परिवर्तनों का अविच्छिन्न आधार द्रव्य माना जाता है। ज्ञात विषयों में समानता और असमानता दीखती है और इसके साथ उनमें समान धर्मों के आधार में जाति एवं सामान्य तथा विशेष धर्मों के आधार के रूप में व्यक्ति का पता चलता है। जाति के आशय के रूप में व्यक्ति द्रव्य माना जाता है। इस प्रकार द्रव्य अनेक लक्षण निष्पन्न होते हैं–द्रव्य धर्मिता का नियामक है, गुणों का आश्रय है, जाति का आश्रय व्यक्ति है। क्रिया देश-काल और कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध पर निर्भर करती है। इसलिए द्रव्य को समवायिकारणता का नियामक भी कहा जा सकता है। व्यक्ति-सत्ता और कारण-सत्ता होने से द्रव्य का स्वभाव अन्य व्यवच्छिन्न होता है और इसलिए अभाव की प्रतीति के बिना द्रव्य की प्रतीति सम्भव नहीं है।

इन सभी लक्षणों से द्रव्य का स्वत: ज्ञान न होकर द्रव्य से भिन्न किसी पदार्थ के ज्ञान को उसके ज्ञान का परिचायक माना जाता है। क्या सचमुच इन परिचायक धर्मों के अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता मानना आवश्यक है? विश्लेषण पटु दार्शनिक धर्मों और उनके सम्बन्धों से वस्तु-स्वभाव को गतार्थ मानते हुए द्रव्य की कल्पना को अनावश्यक बोझ बताते हैं। विश्लेषण के द्वारा द्रव्य का गुण, क्रिया, सम्बन्ध के समूहों में विलयन कहाँ तक सम्भव है यह विवादास्पद है, किन्तु यह असंदिग्ध है कि कुछ ऐसे सम्बन्धों को स्वीकार करना अनिवार्य है जो अपने सम्बन्धी के रूप में द्रव्य का उपादान करते हैं। अनेक धर्मों से विशिष्ट एक व्यक्ति-रूप धर्मी उन धर्मों का पुंज मात्र नहीं है। वे धर्म बिना किसी उपादान के सत्ता का लाभ नहीं करते, वे रंग-रूप, स्पर्श-गन्ध आदि भौतिक उपादानों में ही सत्ता-लाभ करते हैं। यही स्थिति क्रिया की भी है। उपादान का नियामक होना ही द्रव्यत्व का मूल मानना चाहिए। धर्मिता के नियामक के रूप में प्रतीति ज्ञान के सन्दर्भ में द्रव्य का मुख्य लक्षण है।

धर्म-धर्मीभाव-सम्बन्ध और कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध इन दो मूल सम्बन्धों से द्रव्यत्व परिभाषित होता है। इन सम्बन्धों की रचना में भेद और अभेद की युगपद् अवस्थिति से द्वन्द्वात्मक विरोध उत्पन्न होते हैं। यद्यपि विशेष गुणों का ग्रहण एक-एक इन्द्रिय से तात्कालिक आभासों के रूप में होता है, किन्तु ये आभास बाहरी देश में अवस्थित कालिक घटना के रूप में प्रतीत होते हैं, आभासमान् गुणों को जिस देश-काल में अवस्थित वस्तु का अपेक्षाकृत स्थिर धर्म स्वीकार किया जाता है वह अनेक इन्द्रियों से ग्राह्य परिवर्तन अवयवी के रूप में मिलता है। बाहरी वस्तु से प्रतीयमान् गुण किस प्रकार जुड़े हैं? रंग जिस वस्तु में दीखता है उसे प्रकाश और आँख दोनों

की अपेक्षा रहती है। यह कैसे कहा जाए कि रंग उस वस्तु का निजी धर्म है? हम किसी वस्तु के अवयवों और उनकी रचना के द्वारा इस योग्यता को परिभाषति करते हैं कि वह अमुक गुण की प्रतीति का हेतु बन सकती है। प्रत्यक्ष गुणों के आधार के रूप में परिमाण, आकार और संख्या से विशेषित अणु-द्रव्य प्रस्तुत होते हैं। जिन प्रत्यक्ष गुणों से हम द्रव्य को पहचानते हैं वह द्रव्य उन गुणों का हेतु मात्र बनकर दूर हो जाता है।

गुणों को हम प्रत्यक्ष रूप से पहचानते हैं किन्तु उन्हें स्वतन्त्र नहीं मानते, क्योंकि वे अन्य गुणों से जिस प्रकार जुड़े रहते हैं उसमें वे स्वयं कारण नहीं हो सकते। जो लाली और सुगन्ध गुलाब के फूल में एक साथ मिलती हैं उनका हेतु उन दोनों से भिन्न कोई तीसरा पदार्थ होना चाहिए। लाली या सुगन्ध स्वयं भी किसी स्पृश्य पदार्थ में आश्रित प्रतीत होती हैं। लाली पंखुड़ियों में होती है जिनमें सिर्फ लाली नहीं होती बल्कि स्पर्श के योग्य कोमलता भी होती है। हम रंग-रूप आदि गुणों को आत्म-विश्रान्त नहीं पाते, एक से अधिक गुण साथ मिलते हैं और अपने से भिन्न किसी के गुण प्रतीत होते हैं तो गुणों के अतिरिक्त द्रव्य का अस्तित्व मानना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। जो कुछ भी प्रत्यक्ष प्रतीति को अपने अनुकूल आकार प्रदान करता है वह गुण ही होता है और वह अपने से अतिरिक्त अस्तित्व का निर्देश करता है। यदि संवेदन अपने बाहर विषय का संकेत करता है तो प्रत्यक्ष विषय का गुण या आकार अपने से अतिरिक्त अपने विशेष्य का निर्देश करता है। इस प्रकार एक अन्योन्याश्रय उत्पन्न हो जाता है। गुण से द्रव्य की प्रतीति होती है किन्तु द्रव्य गुण का हेतु होते हुए भी स्वतः प्रतीत नहीं होता। गुण स्वतः हो नहीं सकता, द्रव्य स्वतः प्रतीत नहीं हो सकता। सदा अप्रतीत द्रव्य को यदि अनुमान के द्वारा मानें तो कहीं गुण और द्रव्य की व्याप्ति का दृष्टान्त मिलना चाहिए, अन्यथा हम यही कह पायेंगे कि कार्य के रूप में गुण किसी कारण पर निर्भर है। कार्य और कारण एक ही कोटि के हैं या भिन्न कोटियों के, यह निर्णय करना होगा। गुण को अपने से भिन्न प्रकार के कारण की आवश्यकता है, यह मानने पर किसी अनुमान की आवश्यकता नहीं रहेगी।

यह कहा जा सकता है कि गुण और द्रव्य की एक-साथ प्रतीति होती है और गुण के प्रत्यक्ष से उससे अतिरिक्त द्रव्य का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। लाल गुलाब देखने पर हम लाल रंग का प्रत्यक्ष करते हैं और गुलाब का भी। लोहा छूने पर हम ठोसपन का भी संवेदन करते हैं और ठोस वस्तु का भी। यह भी कहा जा सकता है कि हम फूल, घड़ा, बेंच आदि द्रव्यों का प्रत्यक्ष करते हैं और उनसे संलग्न में रूप गुणों का प्रत्यक्ष करते हैं। प्रत्यक्ष विषय मुख्यतया बाह्य वस्तु ही है, या वस्तु ही द्रव्य है जो गुणों से विशिष्ट प्रतीत होती है।

यह विवरण वस्तु के सविकल्पक ज्ञान पर आधारित प्रतीत होता है जो प्रत्यक्ष मात्र नहीं है। एक समय में एक से अधिक विषयों की प्रतीति नहीं हो सकती, न सम्बन्ध की प्रतीति हो सकती है जिसके लिए अपेक्षा-बुद्धि आवश्यक है। इस प्रकार द्रव्य की प्रत्यक्षता का वाद युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता।

यदि द्रव्य और गुण का सदा एक-साथ ग्रहण माना जाए तो उनका तादात्म्य सिद्ध हो जाएगा और वे एक ही सत्ता के दो पक्ष बन जाएंगे। उस स्थिति में कार्य-कारण भाव नहीं रह सकता, क्योंकि कारण कार्य से भिन्न और उसका पूर्ववर्ती होता है। द्रव्य और गुण के भेद को सिद्ध करने के लिए ही वैशेषिक सिद्धान्त द्रव्य की उत्पत्ति के बाद एक क्षण उसकी निर्गुण अवस्थिति मानता है। किन्तु यह वस्तुतः द्रव्य की स्वभाव-विरोधिता है। निर्गुण होने पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से किस प्रकार अन्य जातीय होगा, क्योंकि जाति समान धर्मता पर निर्भर होने के कारण गुणों के अभाव में विद्यमान नहीं कही जा सकती। पहले क्षण का द्रव्य दूसरे क्षण में किस आधार पर विशिष्ट कार्य उत्पन्न करेगा, क्योंकि पहले क्षण में वह सर्वगुण-हीन निःस्वभाव अस्तित्व बन जाएगा। द्रव्य को क्रिया का आश्रय मानने पर इसी प्रकार की कठिनाई फिर से उत्पन्न हो जाएगी। क्रिया का अर्थ है गुणों और सम्बन्धों एवं उनकी अवस्थाओं में भेद का प्रवाह। गतिशील वस्तु के देश-काल-गत सम्बन्ध बदलते रहते हैं। परिणामशील वस्तु में उसके गुण और अवस्थाएं बदलती रहती हैं। वही मनुष्य आज भोपाल में, कल दिल्ली में मिलता है, वही जो बालक था आज बूढ़ा दीखता है। किसी वस्तु की यह पूर्वापरभाव-क्रिया है। इस प्रवाह-सत्ता में जो स्थिर पदार्थ है, जो परिवर्तमान् रूपों का उपादान कारण है, वही द्रव्य है।

इस बात को स्वीकार करने से अनेक संकट आपादित होते हैं। प्रवाह के रूप में जो सत्ता प्रतीत होती है यदि वह एक ही मूल सत्ता है तो वह अनेक रूपों में कैसे प्रतीत होती है? क्या रूप आगन्तुक हैं? यदि आगन्तुक हैं तो उससे मूल-सत्ता का परिवर्तन सिद्ध नहीं होता। कपड़े बदलने से कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बन जाता, न कहीं अपना प्रतिनिधि भेजने से वह गतिशील हो जाता है और न वस्तुओं से बाहरी आगन्तुक सम्बन्ध बदलने से कोई वस्तु अन्य वस्तु बन जाती है, किन्तु उसकी कार्यवृत्ति में अन्तर हो जाता है। सुल्तान बनने से बच्चा सक्का चमड़े के सिक्के चला सका था। वस्तु के स्वाभाविक और औपाधिक रूपों में अन्तर किया जा सकता है किन्तु उसकी परिवर्तनशीलता, गतिशीलता या क्रियाशीलता उसके औपाधिक पक्ष के परिवर्तनों पर निर्भर नहीं मानी जा सकती, क्योंकि तब उसकी क्रिया स्वाभाविक न होकर आरोपित होगी। वस्तु की क्रिया आरोपित होने पर वस्तु स्वयं निष्क्रिय हो जाएगी। एक दृष्टि से क्रियाशील वस्तु-प्रवाह में अनुवर्तमान् स्थिर वस्तु की कल्पना

ऐसी ही है जैसी कपड़े बदलने वाले मनुष्य की। जैसे मनुष्य कपड़े बदलता है ऐसे ही शैशव, यौवन और वृद्धावस्था को छोड़ता है। वही आम का फल पकता है और डाल से गिर जाता है। किन्तु सब परिवर्तनों को अवस्थाओं का अथवा बाहरी सम्बन्धों का ही परिवर्तन नहीं माना जा सकता। आम के पकने, सड़ने और गिरने में अवस्था-भेद और सम्बन्ध-भेद के साथ गुण-भेद भी रहता है। गुण-भेद होने पर क्रियाशक्ति में भेद हो जाता है। कच्ची अम्बियों, पके आमों और सड़े आमों के गुण और कार्य अलग-अलग होते हैं। युवा और वृद्ध मनुष्यों की भी शक्तियां अलग- अलग घटनाओं का प्रवाह है, जैसे नदी, जिसमें जल निरन्तर हट जाता है, मानव-देह के उपचय से सभी जीवाणु बदल जाते हैं, केवल उसमें पूर्व संस्कार, रचना-संस्थान और न्यूनाधिक रूप में सदृश क्षमता बनी रहती है। इस तरह देह का अपरिवर्ती रहना अलग-अलग घटनाओं का एक प्रवाह में रहना ही है। किसी वस्तु की इकाई का जो कार्य है वह उसमें गुण, अवस्था, सम्बन्ध और उपादान में परिवर्तन घटित होने पर पूर्ववत् नहीं रह सकता। वस्तु की एकात्मकता बदल जाने पर उसकी सूक्ष्म पहचान या वास्तविकता भी बदल जाती है। इस दृष्टि से क्रियाशील वस्तु तात्कालिक घटनाओं का प्रवाह मात्र है। एक ओर द्रव्य क्रिया से अछूता और स्थिर बना रहता है दूसरी वह क्रिया-प्रवाह में निरन्तर उत्पन्न और विनिष्ट घटना मात्र बन जाता है। स्थूल अवयवी के रूप में द्रव्य क्रियाओं के होते हुए भी अपनी सत्ता नहीं खोता। युवा होने के बाद से ही मनुष्य की वही पहचान बनी रहती है, अवस्था के भेद होने से भी वही आधारभूत स्वाद और गन्ध बनी रहती है। इन द्रव्यों में स्थूल रूप से वही उपादान, रचना और मूल शक्ति बनी रहती है पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनके अवयव, गुण और कार्य ठीक पूर्ववत् नहीं रहते। यदि वे वैसे ही रहते तो वस्तु अविनाशी बन जाती। जो वस्तु विनाशी होती है वह या तो सम्पूर्ण रूप से एक साथ विनष्ट होगी अथवा उसके अंशों का क्रमशः नाश होगा। यदि वह एक ही बार में पूरी तरह नष्ट होती है और इस नाश का कारण उसकी अपनी क्रिया या विक्रिया नहीं है तो वह अन्य वस्तुओं के सम्पर्क के आघात से नष्ट होगी। यदि यह आघात स्वाभाविक अनिवार्य नहीं है तो वह वस्तु स्वभावतः अमर हो सकती है। कोई भी यह नहीं मान सकता कि संयोग-जन्य सावयव वस्तु अमर हो जाएगी। ऐसी वस्तुएं क्रियान्वयी और विकारशील होती हैं। उन्हें न परिवर्तन में अपरिवर्तित माना जा सकता है न परिवर्तित मात्र। क्रियाशील द्रव्य में परिवर्तन और अपरिवर्तित माना जा सकता है न परिवर्तित मात्र। क्रियाशील द्रव्य में परिवर्तन और अपरिवर्तन को एक-साथ मानना होगा। इस अन्तर्विरोध से बचने के लिए या तो परिवर्तन को भ्रान्ति मानना होगा या अपरिवर्तन को, या तो यह कहना होगा कि जो वस्तु जैसी है उससे भिन्न नहीं हो सकती या यह कहना होगा कि जिसकी सत्ता प्रतीत

होती है वह कभी थी ही नहीं। नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः। यत् सत् तत् अनित्यं, यत् सत् तत् क्षणिकम्।

इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, विनाश से युक्त द्रव्य एक ओर उत्पत्ति और विनाश से रहित नित्य सत् बन जाता है, दूसरी ओर वह स्थिति से रहित क्षणिक घटना बन जाता है। क्रिया के अनुवर्तन और परिवर्तन, भाव और अभाव दोनों जुड़े होते हैं। गति और परिणाम दोनों ही प्राकर की क्रिया में यह अन्तर्विरोध मिलता है। गति में वही वस्तु एक से अधिक स्थानों में लक्षित होती है। यदि वस्तु एक स्थान पर अवस्थित थी तो वह गतिशील ही नहीं थी, गतिशील होने के लिए पहले उसमें स्थिति आवश्यक है। स्थिति और गति परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और एक साथ नहीं रहते। जिसमें गति है उसे दूसरी गति कैसे मिल सकती है? जिसमें गति नहीं है उसे गति कैसे मिलेगी? गतं न गम्यति तावत् अगतं नैव गम्यते। गतागत विनिर्मुक्तं गम्यमानं न विद्ययते। (नागार्जुन)

इसी प्रकार क्रिया में भी अन्तर्विरोध मिलता है। जिसमें क्रिया हो चुकी है वह वस्तु ही बदल चुकी है। यदि क्रिया के पहले और क्रिया के बाद वस्तु वही है तो वह क्रिया से अछूती रही, यही क्रिया यदि वस्तुगत है तो वस्तु में विक्रिया उत्पन्न हो जाएगी। कुछ विचारक मानते हैं कि क्रिया से द्रव्य में परिवर्तन आवश्यक नहीं है। कछुआ कभी अंगों को समेटता है कभी उनको खोल देता है, दोनों अवस्थाओं में वही कछुआ बना रहता है। वही सामने रखा घट कभी दर्शन या स्पर्श की क्रियाओं का विषय बनता है, कभी वह पानी भरने के काम आता है, कभी वह खाली रहता है, इन क्रियाओं से घट का विकार नहीं माना जा सकता।

आकाश का गुण शब्द है, शब्द की उत्पत्ति-विनाश से आकाश में विकार उत्पन्न नहीं होता। जिस द्रव्य में जो गुण और क्रिया है उनके अवस्थान्तर से द्रव्य में विकार नहीं होता। किन्तु ये तर्क इस बात की अनदेखी कर देते हैं कि क्रिया अवयवों के संचलन के बिना अथवा द्रव्य के ऊर्जा-परिणाम के बिना सम्भव नहीं। अतएव यह नियम निरपवाद है कि कोई भी वस्तु विकृत हुए बिना क्रिया नहीं कर सकती।

जो भी वस्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष का विषय होती है उसमें गुण और क्रिया के साथ ही अवयव-अवयवी का भाव भी देखा जाता है। सभी प्रत्यक्ष वस्तुएं एक सीमित देश में अवस्थित होती हैं, उनका अन्तर-विभाग किया जा सकता है और उनकी रचनाओं को उनके अवयवों का संयोग माना जा सकता है। विभाजन अन्ततोगत्वा अविभाज्य अणुओं में समाप्त होगा। प्रश्न यह उठता है कि ऐसे एक अणु का दूसरे अणु के साथ संयोग कैसे संभव है?

जैसे वसुबन्धु ने कहा है, अणु निरंश होने के कारण अंशतः संयुक्त नहीं हो सकता, यदि वह सर्वात्मना संयुक्त होता है तो दो अणु एक ही बन जाएंगे और अवयवी बनेगा ही नहीं। इस प्रकार अवयवों के संयोग से अवयवी नहीं बन सकता।

यदि कथंचित् अवयव-संयोग मान भी लिया जाए तो अवयवों के अतिरिक्त अवयवी की कल्पना का कोई आधार नहीं होगा। अवयवी के किसी भी गुण का प्रत्यक्ष उसके किसी भाग का प्रत्यक्ष होता है, क्रिया में भी अवयवी किसी भी अवयव के द्वारा ही प्रवृत्त होता है। द्रव्य का प्रत्यक्ष अंशतः ही होता है, चाहे आंखों से देखें, चाहे हाथों से छुएं, एक बार में वस्तु का एक भाग ही पकड़ में आता है। समूचे अवयवी की कल्पना इन आंशिक प्रत्यक्षों को जोड़कर उसी प्रकार बनती है जैसे फिल्म में अनेक आंशिक आभास एक आभास में समर्पित हो जाते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रत्यक्ष विभक्त के संश्लेषण के द्वारा न हो कर पहले समूचे अवयवी का होता है और उसमें फिर विभाजन से अवयवों की प्राप्ति होती है। चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में यह मत सारवान् होते हुए भी अन्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष में लागू नहीं होता। चाक्षुष प्रत्यक्ष में भी यह मानना होगा कि अवयवी और अवयवों का पहले एक साथ अस्फुट ज्ञान होता है, इससे अवयवी के अवयव-पारतंत्र्य पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार जैसे क्रियाशील द्रव्य की काल में प्रवाहिता अन्तर्विरोध के कारण दुर्बोध है ऐसे ही देशावस्थित अवयवी की कल्पना भी अन्तर्विरोध से दुर्बोध है। वह न अवयवों का संयोग है न अवयव-संयोग से अतिरिक्त। वस्तुतः देश और काल के प्रत्यय ही दुर्बोध हैं। कुछ दार्शनिक इन दोनों को द्रव्यात्मक बाह्यर्थ ही मानते हैं।

ये देश को दिशा से विशेषित किन्तु सर्वत्र व्याप्त अथवा विभु और स्वतः रिक्त पदार्थ मानते हैं। वह सब द्रव्यों का आधार है, इन्हें अवकाश प्रदान करता है, इसमें स्थिति और गति संभव हैं। अविभाज्य होते हुए भी इसमें अनन्त प्रदेशों अथवा विभागों की कल्पना की जा सकती है। जो द्रव्य उसमें आहित हैं उनका अपने आधारभूत प्रदेशों के साथ संयोग माना जा सकता है। देश में एक स्थान और दूसरे स्थान के अन्तर को आधार मानकर अन्य स्थानों की दूरियों का निर्देश किया जा सकता है। कोई वस्तु हमसे किस दिशा में कितनी दूर है, इस बात से हमको इसके देश में अवस्थित होने का बोध होता है। कोई वस्तु कितने प्रदेश में किस आकार से अवस्थित है इससे भी उसकी दैशिकता का ज्ञान हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि देश दिशाओं और दूरियों से सम्बन्धित असंख्य प्रदेशों के सब ओर फैले हुए जाल के समान है, जिसमें स्थिति और गति का प्रतिरोध नहीं होता और जिसमें प्रदेश-विभाजन निःसीम रूप से हो सकता है। बिन्दुओं, रेखाओं और तलों से निर्देश्य

आकारों और मानों के द्वारा रेखागणित में देश का विज्ञान प्रस्तुत होता है। देश सब ओर समान है, अप्रतिरोधक है, नि:सीम रूप से फैला हुआ है, उस में अनन्त आकार और मान सम्भव हैं, उसमें स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के सब विषय उसमें स्थिति और गति का लाभ करते हैं। इस प्रकार देश अन्य द्रव्यों का प्रतियोगी है। अन्य द्रव्य देश के आधेय हैं, देश आधार है, अन्य द्रव्य सीमत और परिवर्तनशील हैं, देश नि:सीम और परिवर्तन-हीन है, द्रव्य अन्य द्रव्यों के प्रतिरोधी हैं, देश अप्रतिरोधी है। इससे प्रतीत होता है कि देश द्रव्य का अभाव है। किन्तु यह सत्य नहीं है, क्योंकि जहां द्रव्य का भाव है वहां भी देश का भाव है। देश द्रव्य के भाव और अभाव दोनों को ही व्याप्त करता है। द्रव्य के प्रत्यक्ष में उसके आकार और परिणाम तथा दूरी और दिशा का भी प्रत्यक्ष होता है। इससे यह अनुमान होता है कि देश भी द्रव्य के समान इन्द्रिय-ग्राह्य बाह्यार्थ है। किन्तु देश में इन्द्रिय-ग्राह्य कोई धर्म स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध द्रव्यों के साथ उनके आंतरिक और बाह्य सम्बन्धों के रूप में देश का पता चलता है।

द्रव्य के एक भाग के मध्य में अन्तर उपलब्ध होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप के अन्तर पर उपलब्ध होता है, गतिशील द्रव्य के दूसरे द्रव्यों से अन्तर उनके अन्तर बदलने से पता चलते हैं। द्रव्यों का प्रत्यक्ष प्रत्यक्षकर्त्ता से बाहर पास या दूर, दाहिने या बाएं आदि दैशिक सम्बन्धों के साथ होता है। द्रव्यों के प्रत्यक्ष में उसके अपने या औरों से एक विशेष प्रकार के सम्बन्धों के द्वारा देश की प्रतीति होती है, किन्तु अलग से देश का प्रत्यक्ष द्रव्य के अभाव के रूप में ही होता है। अभाव, आकाश और देश इन तीनों के प्रत्ययों को अलग करना आवश्यक है। क्या अभाव का प्रत्यक्ष होता है? या कि अपेक्षित या प्रत्याशित विषय के अप्रत्यक्ष से अभाव का अनुमान होता है? 'कमरे में कुर्सी नहीं है' यह प्रत्यक्ष या उपलब्धि तब होती है जब कोई कुर्सी की प्रत्याशा कर रहा होता है। कमरे में हाथी, शेर, भालू आदि के जो असंख्य अभाव हैं वे कमरे में जाते हुए भी किसी को उपलब्ध नहीं होते। इसलिए बाहर की ओर देखने या हाथ फैलाने पर जिस खालीपन का पता चलता है वह देश का प्रत्यक्ष न होकर अभ्यस्त या प्रत्याशित वस्तुओं के अभाव की ही उपलब्धि है। किन्तु यह अभाव की प्रतीति भी उपलब्धिकर्त्ता की अन्य विषयों के साथ अपने दैशिक सम्बन्धों की प्रतीति से जुड़ी हुई है। मैं हाथ फैला कर कहता हूँ कि मेरे सामने खाली आकाश है, मुझे आँख खोलकर हवाई जहाज के बाहर सब ओर खाली दीखता है। खालीपन दैशिक सम्बन्धों से निर्देशित होता है।

आकाश को अनावरण-स्वभाव या अप्रतिघ स्वभाव कहा गया है। अर्थात् आकाश द्रव्य की ठोस अन्य-प्रतिरोधकता का अभाव लिये रहता है। आकाश किसी

की विद्यमानता या गति में बाधा नहीं पहुँचाता, किन्तु आकाश में किसी प्रकार की इन्द्रियग्राह्यता नहीं है। इस प्रकार का आकाश देश से पृथक् नहीं किया जा सकता। आकाश को जो द्रव्य मानते हैं और महाभूत मानते हैं, वे उस में शब्द के गुण की कल्पना करते हैं। इस प्रकार शब्द और आकाश का संबंध हो सकता है, यह दुर्बोध है। आधुनिक भौतिकी शब्द को किसी भौतिक द्रव्य के संक्षोभ पर निर्भर मानती है। जहां भौतिक द्रव्य न होकर केवल खालीपन हो वहां शब्द की उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रत्यक्ष-सिद्ध तत्त्व से आकाश की शब्द-गुणता का वाद निरस्त हो जाता है। आधुनिक विज्ञान बौद्ध दर्शन के समान है, या चारवाक दर्शन के समान, वह आकाश को भौतिक द्रव्य नहीं मानता। वह पृथ्वी से बाहर उड़ने वाले विमानों को देश-विमान कहता है। भूमंडल के बाहर जहां वायु नहीं है वहां विमान एक अभौतिक रिक्तता या देश मात्र में अप्रतिहत गति करते हैं।

यहाँ पर भी विचारणीय है कि शब्द को यदि नाद माना जाए तो वह आघातजन्य न होकर ऊर्जा का प्रसारण मात्र होगा। शून्य में ऊर्जा का तरंगात्मक गति से प्रसारण विज्ञान स्वीकार करता है। लौकिक अनुभव से इस प्रकार का प्रसारण किसी माध्यम की अपेक्षा रखता है। अथवा लोक-रचना का यह वैचित्र्य है कि बिना माध्यम के ही प्रकाश की तरंगें गतिमान होती हैं। सभी भौतिक द्रव्य और ऊर्जा की तरंगें एक महाशून्य में निर्बाध अवस्थित या गतिमान् हैं या महाकाश में, इसका निर्णय ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही नहीं हो सकता। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से देश भी आपेक्षिक मानकों के द्वारा वस्तु-निर्देश का एक उपाय है, अथवा इन्द्रियों की बहिर्मुखता की विशेषताओं का एक नाम है। प्रत्यक्ष भौतिक वस्तुओं और उनके संबंधों का होता है, देश का नहीं। किन्तु दैशिक सम्बन्धों के बिना किसी भौतिक वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अत: देश को प्रत्यक्ष विषय न मानकर प्रत्यक्ष विषयता की शर्त मानने का प्रस्ताव किया गया है। देश इन्द्रियों की वह वृत्ति सिद्ध होता है जिसके बिना वे विषयों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं। यह अनुमान न होकर एक प्रकार का तर्क है। यदि दैशिक सम्बन्धों का प्रत्यक्ष के साथ सम-नियत निवेश न किया जाय तो प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष में कौन से तथ्य बाह्यार्थ के समान धर्मों के रूप में प्रदत्त हैं और कौन इन्द्रियों की सहज वृत्ति के द्वारा प्रदत्त हैं, इसका विवेक दुष्कर है।

जो सम्बन्ध बाह्य द्रव्यों में पहले और पीछे के रूप में अथवा कर्म के रूप में प्रतीत होते हैं उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे सदा और सर्वत्र समान नियमों के अधीन होते हैं। इन ज्यामितीय नियमों का ज्ञान इन्द्रियों से बाह्यार्थ प्रत्यक्ष पर आधारित न होकर निगमनात्मकता के नित्य और अव्यभिचारी नियमों पर आधारित

होता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तुएं अनन्त हैं, उन सब में इस प्रकार के नियमों का अव्यभिचार नहीं किया जा सकता। ज्यामिति का ज्ञान भी विशुद्ध बुद्धिमूलक न होकर प्रत्यक्षमूलक अनुमान पर आधारित होगा। अत: यह अनुमान किया जा सकता है कि देश का ज्ञान बाह्य अर्थजन्य न होकर ऐन्द्रिय ज्ञान की स्वगत विशेषता पर निर्भर है। इन्द्रिय-व्यापार के साथ ही देश की प्रतीति उत्पन्न होती है और ऐन्द्रिय ज्ञान के पर्यालोचन से उसके व्यापक तत्त्व के रूप में देश का ज्ञान भी व्यवस्थित रूप से उपलब्ध होता है। इसलिए उसके नियमों का ज्ञान भी निरपवाद रूप से सब बाह्यार्थों को अपना विषय बनाता है। प्रकारान्तर से यह कह सकते हैं कि इन्द्रियगोचर अर्थों में जो जाति-भिन्न आपेक्षित धर्म समान रूप से पाये जाते हैं उनका एक आधार व्यापक देश तत्त्व है। देश के कारण ही बाह्य द्रव्यों में संयोग-विभाग, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, संख्या, परिमाण आदि समान धर्म उपलब्ध होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्य का आधार जो देश तत्त्व है वह अपने स्वरूप को इन्द्रिय-निरपेक्ष रूप से नहीं प्राप्त कर सकता। द्रव्य की सत्ता बिना सापेक्ष धर्मों के सिद्ध नहीं होती और ये सापेक्ष धर्म विशेषतया प्रतीत होते हुए भी ऐन्द्रिय ज्ञान के सम-नियत हैं। यह देश की कल्पना में भी अन्तर्गत विरोधी विशेषताओं का तनाव है। एक ओर देश बाह्य विषय प्रतीत होता है, पर वह द्रव्यों के बिना नहीं प्रतीत होता। अर्थात् देश स्वयं द्रव्य नहीं हो सकता। द्रव्य की अवस्था के भेद जिस क्रम में रहते हैं वह क्रम देशगत क्रम से अथवा संख्यागत क्रम से भिन्न है। इन तीनों ही प्रकार के क्रमों में पारस्परिक निर्देश्यता या समानान्तरता स्थापित की जा सकती है। एक रेखा के भागों को संख्याओं से अंकित किया जा सकता है और उन्हीं संख्याओं से अवस्थागत या कालगत क्रम भी निर्देशित किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि यह बिन्दु वर्तमानकाल है, इसके बायीं ओर की रेखा के बिन्दु अतीत के हैं, दाईं ओर के भविष्य के। संख्याओं के क्रम से दिशा और काल दोनों के ही क्रम का प्रतिमापन या प्रतिचित्रण किया जा सकता है। संख्या-क्रम से निर्देश्य होने पर भी दैशिक और कालिक क्रम की अनुभूतिगत विशेषताओं का उनके गणितीय मान और विश्लेषण से ठीक पता नहीं चलता। गणित की दृष्टि से देश और काल को संयोजित रूप से ही नापने के आधार के रूप में सोचा जा सकता है। यह सुविदित है कि भूगोल के विभिन्न अक्षांशों में काल का भेद हो जाता है। जिन प्रकाश-रश्मियों से किसी घटना को देखा जाता है उन्हें घटना से द्रष्टा तक पहुँचने में ही समय के विशेष प्रकार के सम्बन्धों के आधार के रूप में समझा जाता है, साथ ही वह ऐन्द्रिय ज्ञान की विषयगत

विशेषता के रूप में भी प्रतीत होता है। ऐन्द्रिय ज्ञान के विषयों में अवस्थित दिशा और क्रम के नियामक के रूप में देश को अवधारित कर सकते हैं।

देश के कारण ही द्रव्यों में स्थिति, क्रम, दिशा और मान निर्धारित होते हैं। इस प्रकार द्रव्य हुए बिना देश द्रव्यों के आन्तरिक और बाहरी सम्बन्धों का नियामक है। विषय होते हुए भी वह ऐन्द्रिय ज्ञान के व्यापार की विशेषता से स्वयं नियत है। वह न द्रव्य है, न द्रव्य का अभाव मात्र है, वह न स्वतंत्र विषय है, न कल्पना मात्र। बाहरी विश्व की ऐन्द्रिय ज्ञान-सापेक्ष रचना के रूप में देश बाहरी जगत् की सत्ता का भी नियामक है और साथ ही उसकी अस्वतन्त्रता का परिचायक भी।

देश के समान काल भी द्रव्य-सत्ता में पूर्व नियत है, क्रियाकारी होने के कारण अथवा घटना-प्रवाह होने के कारण द्रव्य की सत्ता में पूर्वापर भाव देखा जा सकता है। यहां के समय से अमरीका में समय घंटों पीछे रहता है, पूर्व की ओर आगे। सूर्य को जो इस समय देखते हैं वह आठ मिनट पहले की बात है।

इस तरह यह कल्पना की जा सकती है कि हम देश-काल के एक ढाँचे में हैं जिसके चार आयाम हैं, तीन देश के और एक काल का। क्योंकि काल के भी तीन विभाग हैं इसलिए कुल मिलाकर द्रव्य-सत्ता के छह आयाम बन जाते हैं। घट भूमि पर स्थित होकर तीन आयामों में एक परिमाण को घेरता है, साथ ही वह काल के तीन खण्डों में प्रवहमान् होता है। विशेष गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य-सत्ता की कल्पना देश और काल में नहीं होती, वे उसके अन्यापेक्ष औपाधिक सम्बन्ध प्रतीत होते है। किन्तु ऐसा है नहीं। सभी गुणों की प्रतीति में इन्द्रियों को देश की प्रतीति भी होती है। रूप और शब्द, स्पर्श और गन्ध और रस सभी कहीं न कहीं अवस्थित प्रतीत होते हैं और इनकी प्रतीति अवस्थाओं के क्रम से होती है।

प्रतीतियां काल में प्रवहमान् और क्रमिक होने से इनके विषय इस प्रतीति-क्रम से समानान्तर लक्षित होते हैं। यह वस्तुओं का लक्षण परिणाम है। उनमें क्रिया, गुण, अवस्था और लक्षण चारों ही प्रकार के परिणाम लक्षित होते हैं। इन परिणामों के बिना वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सत्तावान् होने के लिए वस्तु को अवयवों के संयोगों से विस्तार प्राप्त होता है और क्रिया का आश्रय होने के कारण काल में परिवर्तन। देशगत विस्तार और कालगत परिवर्तन-प्रवाह प्रत्येक वस्तु की रचना के आवश्यक तत्त्व हैं। पर ये तत्त्व वस्तु-प्रतीति के सापेक्ष हैं। इस कारण ये स्वतंत्र वस्तु न होकर वस्तु-ज्ञान के नियामक होते हैं, जिनका मूल वस्तु में है या ज्ञान में, यह एक समस्या बनी रहती है। अनन्त आकाश में फैले हुए चिरन्तन गतिमान् पिण्ड देशकाल में विस्तार के बिना कैसे सत्ता-लाभ कर सकते हैं? किन्तु किसी प्रत्यक्ष के योग्य विषय

न हो तो उनकी सम्बन्ध-सापेक्ष-सत्ता और अतएव सत्ता क्या कल्पनीय होगी? प्रत्येक गतिमान् के एक पृथक् सत्ता बनने में भाव और अभाव को एक साथ होना चाहिए, ऐसा सत्ता के अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होने के कारण असम्भव होता है। काल में एक क्षण भी वास्तविक होता है। यदि स्मृति न हो तो अतीत और अभूत में कोई अन्तर नहीं होगा। यदि प्रत्यक्ष न हो तो वर्तमान का कोई अर्थ नहीं होगा, वर्तमान के न होने पर भविष्य का कोई अर्थ नहीं होगा। इस प्रकार वस्तु को ज्ञान के योग्य विषय के रूप में न देखा जाय तो उसकी सत्ता का वर्णन नहीं किया जा सकता। सामान्य और संख्या का अस्तित्व ज्ञान-सापेक्ष रूप से ही सम्भव है, किन्तु भौतिक सत्ता के बिना उनके अस्तित्व को मानकर ही चला जा सकता है। द्रव्य या प्रत्यक्ष की बाह्यभूत संख्या का अस्तित्व ज्ञान-सापेक्ष रूप से ही सम्भव है, किन्तु भौतिक सत्ता के बिना उनके अस्तित्व को मानकर ही चला जा सकता है। द्रव्य या प्रत्यक्ष की बाह्यभूत वस्तु की रचना के तत्त्व सामान्य और संख्या, देश और काल वास्तविक न प्रतीत होकर बुद्धि-सापेक्ष प्रतीत होते हैं। यह एक विरोधाभास है कि ज्ञान के नियामक के रूप में अवधारित वस्तु ज्ञान-सापेक्ष तत्त्वों से रची हुई है।

यही नहीं, इन सापेक्ष नियामकों में किसी का भी स्वरूप अन्तर्विरोध-शून्य नहीं है। देश की हम स्वभाव-शून्य अवस्थान-पंजर में अवधारणा करते हैं। कोई वस्तु न हो तो भी हम उनकी अवस्थिति के सम्भाव्य स्थानों और उन स्थानों के अन्तर एवं दिशाओं की कल्पना कर सकते हैं। 'एक स्थान से दूसरे स्थान का अन्तर न्यूनतम होने पर उनको जोड़ने वाली दिशा-निर्देशक रेखा सरल रेखा होगी, शेष सभी वक्र रेखाएं' इत्यादि नियमों से देश के संभावित स्थानों के सम्बन्ध व्याप्त मिलते हैं। सम्भावनात्मक रूप में भी देश अटूट और स्वरूप मात्र विश्रान्त नियमों को अपने साथ लिए रहता है। यदि बुद्धि ऐन्द्रिय प्रतिभास में स्वरूपतया उपदर्शित देशतत्त्व का साक्षात्कार करती है तो देश तब स्वरूपत: अतीन्द्रिय होकर इन्द्रियों और उनके विषयों का नियामक बन जाता है। यह एक विरोधाभास है कि इन्द्रियों और उनके विषयों की रचना का नियामक एक अतीन्द्रिय तत्त्व है। यही विरोधाभास काल, सामान्य और संख्या के विषय में भी उपलब्ध होता है। इन सभी तत्त्वों का ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान में अन्तर्निहित रूप से बुद्धि के द्वारा साक्षात् उपलब्ध किया जाता है।

यह कहा जा सकता है कि यह बौद्धिक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान के विश्लेषण से उत्पन्न होने के कारण वस्तु-जगत् का ही व्यावृत्त्यात्मक विकल्पात्मक और सांकेतिक ज्ञान है। वह किसी अतीन्द्रिय पदार्थ का साक्षात् ज्ञान नहीं है। काल, सामान्य और संख्या के विषय में भी यही स्थिति है। वस्तुत: यह कल्पना पूरी तरह तथ्यों से संगत नहीं है।

व्यावृत्त्यात्मक ज्ञान अधूरा ज्ञान होता है। यह वस्तु के ज्ञान से निम्न कोटि का होता है। उसकी उपयोगिता संकेतों के द्वारा वचन-लाघव में होती है। सब कर्मचारियों के नाम गिनाने के स्थान पर हम 'कर्मचारी' शब्द का प्रयोग करके वह सब कह सकते हैं जो उन सब पर कर्मचारी होने के नाते लागू होता है। किन्तु कर्मचारियों की यह नियम-संहिता इस प्रकार की नहीं है, जैसे उन लोगों के मानव-देहधारी होने के कारण शरीर-विज्ञान में होती है। अर्थात् औपाधिक धर्मों के विषय में विकल्प-ज्ञान अन्य प्रकार का होता है, तात्त्विक धर्मों के विषय में और प्रकार का। इस प्रकार वस्तुगत और वस्तु के अन्यापेक्ष धर्मों में भेद करना आवश्यक है।

क्रमशः

ए-९०, अलकापुरी
डाकघर-भेल, भोपाल-४६२०२४

सत्तामीमांसा के आधारभूत प्रश्न

राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

सत्तामीमांसा (ऑन्टालॉज़ी) के वे कौन से आधारभूत प्रश्न हैं, जिज्ञासाएँ हैं, जो सत्ता के विमर्श को आरंभ करते हैं और उसके विचारों की एक व्यवस्थित संरचना को संभव बनाते हैं? यदि हम मार्टिन हायडेगर की बात मानें तो यह आधारभूत प्रश्न है–'वस्तुएँ क्यों हैं, अभाव क्यों नहीं?' जैसाकि वे बताते हैं, यह प्रश्न मूलत: सुकरात-पूर्व प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों ने उठाया था और उनके बाद का पूरा पाश्चात्य दर्शन इसी प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में किया गया चिंतन है। इस प्रश्न के रूप को समझना चाहिए। प्रश्न में व्यक्त जिज्ञासा यह नहीं है कि वस्तुएँ या जगत् के होने के बारे में कोई शंका है, वे तो बस हैं। जिज्ञासा यह भी नहीं है कि जगत् की भाववत्ता को किसी तरह का कोई ख़तरा है जो उसे अभाववत् कर देगा, क्योंकि उसकी भाववत्ता ही उसके अभाव के नहीं होने की गारंटी है। पुन:, जिज्ञासा इस बात को लेकर भी नहीं है कि वस्तुएँ अस्थिर या परिवर्तनशील हैं, क्योंकि उनका वास्तविक विकल्प, अर्थात् उनका अभाव, तो है ही नहीं। तो फिर जिज्ञासा क्या है? जिज्ञासा यह है कि कहीं 'अभाव' ही तो वस्तुओं की भाववत्ता का आधार नहीं है? अत: 'वस्तुएँ क्यों हैं?' का उत्तर प्रथमत: किसी तरह यह मानने में है कि वस्तुओं की भाववत्ता के संदर्भ में 'अ-भाव' का क्या रूप हो सकता है, और द्वितीयत: यह समझने में है कि कैसे अ-भाव का वह रूप वस्तु-भाव से शून्य होकर भी उसे संभव बनाता है? समूचे पाश्चात्य दर्शन के इतिहास की परिक्रमा करता हुआ हायडेगर का निष्कर्ष यह है कि नितांत व्यक्ति-स्वरूप मानव 'भाव' ही वह वस्तु-भाव-शून्य अर्थहीन 'अ-भाव' है, सारहीन अस्तिमूल चेतना है जिसके काल-पटल पर वस्तु-भाव उदित और अस्त होते हैं। अर्थात्, दूसरे शब्दों में, 'वस्तुएँ इसलिए हैं क्योंकि मानव-अस्तित्व अभाववत् है।'

हायडेगर का चिंतन, जो निस्संदेह दार्शनिक मौलिकता की नई ऊंचाइयाँ छूता प्रतीत होता है, यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि किस तरह सत्ता-मीमांसा के आभारभूत प्रश्न को दार्शनिकों ने अकसर ग़लत सिरे से पकड़ने की कोशिश की है। मान लीजिए, कोई यह कहे कि सत्ता-मीमांसा का आधार प्रश्न वैसा नहीं है जैसा कि हायडेगर ने उसे सूत्रबद्ध किया है, वरन् उसका सही रूप इस प्रकार है–'मानव-भाव भी वस्तु-भाव की तरह उदित और अस्त होता है, इसलिए उन दोनों को ही इस तरह संभव बनाने वाला आधारभूत 'अ-भाव' क्या है?' प्रश्न का आशय यह है कि वस्तुओं के होने से जैसी

सत्तामीमांसीय जिज्ञासा जागती है ठीक वैसी ही जिज्ञासा मानव (चेतना) के 'होने' से भी पैदा होती है, और इसलिए सत्तामीमांसा के लिए यह गवेषणीय प्रश्न है कि क्या इन दोनों 'होने के प्रकारों' में आधारभूत तत्त्व एक ही नहीं है? पर शायद इससे भी अधिक गहरा संकेत इस बाद वाले प्रश्न में यह है कि क्या ऐसा तो नहीं है कि हम वस्तु-भाव और मानव (चेतना)-भाव को अपनी जिज्ञासा की सीमा-रेखा मान कर वस्तुत: सत्तामीमांसा के वास्तविक क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं कर पा रहे हैं? जैसाकि हम आगे देखेंगे, 'भाव' और 'सत्ता' एक ही चीज़ नहीं हैं और इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि 'भाव-विमर्श' और 'सत्ता-विमर्श' सदैव एक ही हों।

यहाँ स्पष्ट होना चाहिए कि हम उक्त दोनों प्रश्नों में से किसी एक या दूसरे के ग़लत होने की बात नहीं कह रहे हैं। कहा केवल यह जा रहा है कि सत्ता-विमर्श को सही दिशा देने में हायडेगर का प्रश्न समर्थ नहीं है, जबकि दूसरे प्रश्न में सही दिशा का संकेत भर है जो आगे बढ़ पाने के लिए पर्याप्त नहीं है। इन प्रश्नों के सहारे आगे बढ़ने में उलझनें और भटकाव अधिक हैं, जिन्हें कुछ चिंतक अर्थहीन प्रलाप या काल्पनिक उड़ान की श्रेणी में रखते हैं। वस्तुत: ऐसी स्थिति केवल सत्तामीमांसा के क्षेत्र में ही नहीं है। दार्शनिक चिंतन के अन्य क्षेत्रों में भी अकसर यही बात देखने में आती है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए क्योंकि दार्शनिक विमर्श के सही आरंभिक बिन्दु के प्रति चिंतक सचेत नहीं होते। अधिकतर हमारा चिंतन अभ्यास के क्रम का एक हिस्सा होता है। वह सड़क के किनारे प्रतीक्षारत खड़े उस व्यक्ति की तरह है जो आगे बढ़ती भीड़ में शामिल होने के लिए अनुकूल अवसर तलाशता है और जहां अवसर मिला आगे बढ़ जाता है। सही रूप में दार्शनिक चिंतन एक नितांत अकेला सफर है। यह विचारों की भीड़ को चीरकर आगे बढ़ता है, अकसर प्रवाह के विपरीत, यह मान कर कि उसके हर कदम में अकेली उसकी 'दृष्टि' मार्गदर्शक है, उसकी प्रामाणिकता का आधार स्वयं उसके भीतर कहीं है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी-कुछ की प्रामाणिकता संदिग्ध है। दार्शनिक चिंतन की विलक्षणता यही है कि न तो पीछे उसे ठोस जगत् का सहारा है और न ही आगे उसे वैज्ञानिक विचार-समूह का सहमतिकारक समर्थन। अवश्य इसलिए दार्शनिक चिंतन को सही दिशा में ले चलने वाले प्रश्नों में ही वह गुण होना चाहिए जो उसमें नितांत अकेले सफर का उत्साह और ऊर्जा का संचार करता है। दार्शनिक प्रश्नों का यह विलक्षण गुण क्या है?

आगे बढ़ने के पहले एक और स्पष्टीकरण आवश्यक है। ऐसा नहीं है कि ग़लत सिरे से आरंभ किये जाने में सत्ता-विमर्श में कोई सही बात पैदा ही नहीं होती। उदाहरण के लिए, हायडेगर के सत्तामीमांसात्मक विश्लेषण में कई ऐसी बातें उजागर हुई हैं जो ऊपर कहे गये दार्शनिक चिंतन के लक्षणों से मिलती-जुलती हैं। संभवत: यह कहना अधिक सही होगा कि स्वत: प्रश्न का कोई ग़लत या सही सिरा नहीं होता, केवल हमारी उसकी समझ ही उसे ग़लत सिरे से पकड़ने के कारण उचित दार्शनिक विमर्श का आधार

नहीं बना पाती। प्रत्येक प्रश्न का एक सर्व-सुलभ अवगमन-आयाम होता है, यह दार्शनिक को भी दिखाई देता है, किंतु यह दार्शनिक चिंतन का 'आरंभ-बिन्दु' नहीं हो सकता। उसका आरंभ-बिन्दु वह अंतर्दृष्टि होती है जो उपर्युक्त देखने के क्रम में 'कौंधती' है और उस 'कौंधने' के क्षण में उस सर्व-सुलभ अवगमन-आयाम का एक बिल्कुल नया रूप उभरता है और तत्काल ओझल हो जाता है। इस ओझल होने वाले दृश्य-पटल की पुनर्रचना ही दार्शनिक विमर्श का सार है। दार्शनिक एक कलाकार है, उसकी एक पहचान वाली कलात्मक शैली होती है, उसके द्वारा उकेरा गया एक चित्र-फलक भी होता है, और केवल कला-पारखी ही उसका सही मूल्यांकन कर पाता है। दार्शनिक विमर्श में यह सब-कुछ होता है, केवल ठीक-ठीक उस आरंभिक 'प्रेरणा-बिंदु' का प्रकाश नहीं होता, शायद संबंधित दार्शनिक के लिए भी नहीं। किसी भी दार्शनिक विमर्श की पूर्णता के लिए उपर्युक्त आरंभिक 'अंतर्दृष्टि' को ही प्रकाश में लाना एक चुनौती होती है, और साथ ही एक उपलब्धि भी। यह चुनौती और उपलब्धि ही सत्ता-मीमांसा को संभव बनाती है और उसे दार्शनिक चिंतन के शीर्ष में स्थापित करती है।

सामान्यत: दार्शनिक अपने विमर्श का आरंभ सर्व-सुलभ अवगमन-तंत्र के विश्लेषण से करते हैं। इसे इंद्रिय-संवेद्य विषयों के सहारे किया जाता है, या फिर भाषायी प्रत्ययों की अर्थ-संरचना के आधार पर। सत्ता-मीमांसा से संबंधित चिंतन में भी यही हुआ है। पारमिनीडीज़, सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, स्पिनोज़ा, विटगॅन्स्टाइन जैसे चिंतक मूलत: प्रत्यय-विश्लेषण द्वारा सत्ता के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास करते हैं, हेराक्लिटस, बर्कले, ह्यूम, रसेल आदि इसके लिए मुख्यत: इंद्रिय-संवेद्य विषयों का सहारा लेते हैं, और देकार्त, कांट, हुस्सर्ल, हायडेगर जैसे चिंतकों की दृष्टि में उपर्युक्त दोनों आधारों से विचार करना अधिक उपयोगी रहता है। इन प्रयासों से प्राप्त निष्कर्षों में अंतर्निहित कमज़ोरियों की ओर ध्यान देना लाभकारी होगा, क्योंकि उनसे हम जान पायेंगे कि कैसे इन आधारों से आगे बढ़ने पर सत्तामीमांसा की संभावना धूमिल होती है। मूलत: प्रत्यय-विमर्श पर आधारित सत्तामीमांसा अतिव्याप्ति के लक्षण प्रकट करती है, यहां तक कि वह शुद्धत: आकारीय-गणितीय अंकों और तार्किक संबंधों, निषेध आदि के लिए भी सत्ता का ढाँचा तैयार कर लेती है। इंद्रिय-संवेद्य विषयों को अपना मूलाधार मानने वाली सत्तामीमांसा अकसर अल्पव्याप्ति के दोष वाली होती है तथा अपनी अंतिम परिणति में वह सत्ता-संबंधी किसी भी सिद्धान्त को अस्थिर करने में माहिर होती है। पुन:, उपर्युक्त दोनों आधारों को संयुक्तरूपेण मान्य करने के फलस्वरूप हम प्राय: सत्ता-संबंधी किसी न किसी अज्ञेयवाद की ओर बढ़ने को विवश होते हैं। उदाहरणार्थ, कांट के संदर्भ में भौतिक द्रव्य तथा आत्मा की अज्ञेयता।

वस्तुत: मूल बात यह है कि किसी भी सर्व-सुलभ अवगमन-तंत्र से सत्ता-विमर्श को आरंभ करना ही कठिनाई की जड़ में है। दार्शनिक प्राय: इसकी अनदेखी करते हैं। संभवत: इसे ही ध्यान में रख कर हुस्सर्ल ने एक अभूतपूर्व दार्शनिक विधि, फिनामिनालॉजिकीय अपचय की

विधि, की नींव रखी जो हमें सर्व-सुलभ अवगमन-तंत्र के इंद्रिय-संवेद्य विषयों और प्रत्यय-व्यूहों के भँवर-जाल से बाहर निकाल सके। किन्तु यह भी उपयोगी नहीं सिद्ध हुई, क्योंकि वहां से बाहर निकल कर हम 'सामान्य' चेतना-चक्र में फँस गये, जिसमें 'समष्टि में व्यष्टि-प्रक्षेप' की व्याख्या संभव नहीं है। वह व्यष्टिमूलक 'अंतर्दृष्टि', जिसका प्रक्षेप 'सामान्य' (समष्टि) को एक बिल्कुल नया रूप प्रदान करता है, उसमें कभी भी 'सामान्य' को विश्लेषण द्वारा पकड़ में नहीं लाया जा सकता। जैसा कि कीर्केगार्ड ने हीगेल के दर्शन-तंत्र के लिए कहा, वह एक आलीशान संरचना है किंतु उसमें स्वयं 'हीगेल' व्यक्ति के लिए कोई जगह नहीं है। अवश्य, सामान्य अवगमन तंत्र में भी एक व्यष्टिमूलक तत्त्व इंद्रिय-संवेद्यता के रूप में होता है, किन्तु वह अपने संवेद्य 'विषय' को ही व्यष्टिमूल बना डालता है, और इसलिए यह देख पाना असंभव होता है कि किस तरह उसी तंत्र में विद्यमान समष्टि-रूप प्रत्यय-संरचना में उसे एक प्रक्षेप के रूप में समझा जा सकता है।

आश्चर्य है कि एक समूची चिंतन-धारा की परिक्रमा पूरी करके भी हम अभी तक यह स्थिर नहीं कर पाये कि सत्ता-मीमांसा का ठीक-ठीक आरंभ-बिंदु क्या है। पर इस क्रम में यह ज़रूर स्पष्ट हुआ कि यहां किसी तरह व्यष्टि-समष्टि अपरिहार्य संबंध की तलाश चिंतक को है, जिसकी आहट तो है किन्तु जो न तो प्रकटत: निर्दिष्ट है और न ही सहजत: बोधगम्य। यहां जो आहट चिंतक को मिल रही है उसका रूप एक प्रश्न से अधिक विस्मय का है। यदि दार्शनिक उसे एक विस्मय से अधिक प्रश्न के रूप में समझ लेता है तो तुरंत वह प्रश्नोत्तर की दिशा में चल पड़ता है, जैसाकि हायडेगर के सूत्रबद्ध प्रश्न के साथ हुआ है। तो फिर सत्तामीमांसा की मंज़िल दूर होती चली जाती है। विस्मय की केंद्रस्थता चिंतक को उस 'अंतर्दृष्टि' के भीतर ले जाती है जो सभी दार्शनिक प्रश्नों की जननी है, और जिसके प्रकाश में कोई भी दार्शनिक प्रश्न एक दार्शनिक प्रश्न बन पाता है, एक ऐसा प्रश्न जो सामान्य जन की समझ की परिधि से बाहर होता है। पुन:, दार्शनिक प्रश्न में विस्मय की यह केंद्रस्थता ही चिंतक को एक नितांत अकेला व्यक्ति बना देती है, किंतु इस तरह नहीं कि वह अस्तित्ववादियों के 'व्यक्ति' की तरह सदैव समष्टि, वस्तुनिष्ठता जैसे परकीय लगने वाले तत्त्वों से सशंकित रहे। वस्तुत: अस्तित्ववादियों के भ्रम के मूल में भी वही बात है जो समूची पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन की पहचान है, अर्थात् प्रश्न से अधिक प्रश्नोत्तर को वास्तविक समझना। जबकि दार्शनिक चिंतन में प्रश्न ही वास्तविक होता है, और उसके उत्तर मात्र संभावनाएँ, जिनकी वास्तविकता परखना अन्यों, जैसे वैज्ञानिकों, का कार्य होता है। प्रश्न को छोड़ प्रश्नोत्तर के प्रति अधिक आग्रहशीलता दार्शनिक चिंतन-पथ से उस विस्मय को तो ओझल करती ही है जो प्रश्न के संदर्भ में अंतर्दृष्टि का वाहक है, साथ ही वह चिंतन को एक प्रकार की तार्किक जड़ता से जकड़ देती है। दार्शनिक प्रश्नोत्तर की प्रामाणिकता का जाल बुनने में ही अपने चिंतन की सारी ऊर्जा समाप्त कर देता है। इसी दृष्टि से दर्शन में सही ढंग (शैली) से प्रश्न को रखना और उसे सही सिरे से पकड़ कर चिंतन का आरंभ करना बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। 'वस्तुएँ क्यों हैं, अभाव क्यों नहीं?' में अभिव्यक्त

जिज्ञासा सही हो सकती है, किंतु प्रश्न के रूप में उसे रखने का ढंग ऐसा है कि उससे सत्ता-सम्बन्धी विमर्श को सही तौर पर आरंभ नहीं किया जा सका। जब हम वस्तु-सत्ता से अपने आप को अनुबंधनीय ढंग से बांध लेते हैं, अर्थात् जब सत्ता का कोई भी रूप (यहाँ वस्तु-सत्ता) प्रश्न के दायरे से बाहर एक आरंभ-बिन्दु के रूप में स्थापित मान लिया जाता है, तब या तो हम अपने चिंतन-क्रम में उस सत्ता को ही सत्ता मात्र का रूप समझ लेंगे या फिर अन्य किसी भी सत्ता के अभाववत् होने की घोषणा करने लगेंगे। वस्तु-सत्ता से बँधा चिंतन आत्म-सत्ता की ओर गति नहीं करता, अपितु उसका अतिक्रमण कर अपने-आप को स्थापित करता है (क्योंकि, अन्यथा चिंतन मात्र ही तो आत्म-सत्ता के बिना संभव नहीं!)। इस तरह हम सत्ता-विमर्श में वस्तु-सत्ता से आरंभ कर यह मानने के लिए विवश हो जाते हैं कि या तो वस्तु-सत्ता शुद्धत: एक पर-भावी सत्ता है और/अथवा आत्म-सत्ता शुद्धत: अभाव स्वरूप है। हायडेगर के सूत्रबद्ध प्रश्न की यही तार्किक परिणति सार्त्र के चिंतन में उभर कर सामने आती है। ठीक यही बात प्रकारांतर से तब भी दिखाई देती है जब हम वस्तु-सत्ता के बदले उसके प्रस्तुतिकारक संवेदों या प्रत्ययों के सहारे सत्ता-विमर्श में आगे बढ़ते हैं। ब्रिटिश अनुभववादियों और यूरोपीय बुद्धिवादियों के उपक्रमों की परिणति अंतत: काँट के चिंतन में यह होती है कि सत्ता-विमर्श की दृष्टि से वस्तु और आत्मा दोनों ही तत्त्व हमारे लिए अज्ञेय हो जाते हैं।

तब, सत्ता संबंधी चिंतन को सही आरंभ-बिन्दु और गति प्रदान करने वाले प्रश्न की हमें अभी तलाश है। पाश्चात्य दार्शनिक चेतना में वह नज़र नहीं आता। हमें उसे अब भारतीय दार्शनिक चेतना-धारा में ढूँढना चाहिए। ऋग्वेद (१.१६४.३७-३८) में एक प्रश्न आया है–'मैं कौन हूँ, नहीं जानता, मन से बँधा हुआ बस चलता हूँ।' प्रकट ही यह प्रश्न से अधिक एक विस्मय है, अथवा अधिक उपयुक्त यह कहना होगा कि प्रकट विस्मय के अंतराल से एक प्रश्न झाँक रहा है। दार्शनिक विशिष्टतायुक्त प्रश्न की यही ठीक शैली है। यह किसी 'जानने' से पैदा हुआ 'अनजाना' तत्त्व है, इसलिए इसमें विस्मयजन्य आकर्षण है जो हमें अपनी ओर खींच रहा है, अर्थात् आत्म-भाव में और गहरे पैठने के लिए लुभा रहा है। प्रश्न हमें उत्तर के लिए ललचाता है और इसलिए हम प्रश्न में नहीं, उसके उत्तर में गहराई से उतर जाना चाहते हैं। विस्मय हमें प्रश्न में ही गहरे उतरने के लिए बाध्य करता है। प्रश्न उस अनवगम्य को हासिल करने के लिए होता है जिसे हम नहीं जानते, जबकि विस्मय में अवगम्य में ही विद्यमान गूढ़ को उजागर करने की प्रेरणा होती है। प्रश्न चेतना के बहिर्प्रक्षेप में अर्थ-सामर्थ्य ग्रहण करता है, जबकि विस्मय चेतना के अंतर्प्रक्षेप के अर्थान्वेषण के आयाम प्रस्तुत करता है। संक्षेप में, विस्मय आत्म-भावी है जबकि प्रश्न विषय-भावी। परन्तु, साथ ही, यह भी ध्यातव्य है कि 'प्रश्न' और 'विस्मय' तत्त्वत: दो नहीं, एक ही चीज़ है। बिना विस्मय के कोई वास्तविक प्रश्न पैदा नहीं होता और बिना प्रश्न के कोई विस्मय अर्थान्वेषण का कारक नहीं बनता। निस्संदेह दोनों की इसी सहज भावान्विता के कारण दार्शनिक उनके बीच शैली-भेद को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते और फलत: अपने दार्शनिक विमर्श को विषयभावी अथवा वस्त्वर्थोन्मेषक कोटि का

समझ लेते हैं। इसके विपरीत, उनके बीच शैली-भेद से स्पष्ट है कि दार्शनिक विमर्श को वस्तुत: आत्मभावी या आत्मार्थोन्मेषक ही होना चाहिए।

द्रष्टव्य है कि ऐसा नहीं है कि विस्मय-भाव से गतिशील हुआ आत्मभावी दार्शनिक विमर्श वस्तु-सत्ता और उसके प्रस्तुतिकारक इंद्रिय-संवेदों तथा प्रत्ययों से किसी तरह उदासीन होता है, या फिर उन्हें विचार-योग्य नहीं मानता। विस्मय के आत्मभावी होने का आशय उसकी आत्मलिप्तता से नहीं है। आत्मभावी होने से आशय चेतना-संदर्भ में घटित प्रत्येक भावोद्भव (विषय-भाव सहित) को चैत्त भाव के एक रूपांतरण के रूप में समझना और तद्रूप में उसकी प्रामाणिकता की जाँच करना है। यह जाँच ज्ञान, मूल्य या सत्ता के आधार से ही हो सकती है और तदनुसार दार्शनिक विमर्श क्रमश: ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा या सत्तामीमांसा के रूप में उपलब्ध होता है।

उदाहरण के लिए हम वस्तु-सत्ता और उसके प्रस्तुतिकारक इंद्रिय-संवेदों व प्रत्ययों को उक्त ऋग्वैदिक प्रश्न के प्रकाश में चैत्तभाव के रूपांतरण के रूप में परख सकते हैं और उसके बाद यह देख सकते हैं कि पारंपरिक सत्तामीमांसात्मक चिंतन किस तरह विषय-भावी शैली अपनाये जाने के कारण भटकाव की स्थिति से गुज़रता है। इस क्रम में सबसे पहले हमें इसका ध्यान रखना होगा कि ऋग्वैदिक प्रश्न का 'मैं' (व्यक्ति) अस्तित्ववादियों के चेहरा-विहीन व्यक्तित्व की ओर इशारा नहीं करता। यह व्यक्ति की ऊब (बोरडम), उद्विग्नता (एंग्ज़ाइटी) या वस्तुनिष्ठता (ऑब्जेक्टिविटी) के दबाव से उसका घुटन से निकला हुआ प्रश्न नहीं है। ये सब व्यक्ति के मानसिक स्तर पर उठने वाले भाव हैं जिनका अनिवार्य संदर्भ विषय-भावी है और इसलिए इनकी गति बहिर्प्रेक्ष्य के रूप में ही संभव है। इसलिए यहाँ आत्म-भाव शून्यवत् 'अ-भाव' सा भासता है। उक्त ऋग्वैदिक प्रश्न का 'मैं' अस्तित्व के अर्थहीन शून्य में उत्पन्न विषय-भावी प्रतिध्वनि नहीं है। उसमें आत्मभावी विस्मय का प्रकाश है जो हमें उस अंतर्दृष्टि की ओर ले चलना चाहता है जिसमें सत्ता का रहस्य उजागर हो रहा है। जब तक सत्ता का यह रहस्य हमारी चेतना के उजाले में नहीं आता, न तो आत्म-भाव और न ही विषय-भाव सत्ता की प्रामाणिक दावेदारी कर सकते हैं,

ऋग्वेद का उक्त प्रश्न बड़ा विशिष्ट है। उसकी विशेषताओं पर ध्यान देना चाहिए। 'मैं क्या हूँ, नहीं जानता?' इस कथन में 'मैं' के संदर्भ में सहजत: जाने-पहचाने भाव-रूपों का निषेध है। अर्थात्, मैं यह शरीर नहीं हूँ, मैं यह संस्कारयुक्त व्यक्तित्व नहीं हूँ, मैं इस व्यक्तित्व का केंद्र अहंभाव नहीं हूँ, इत्यादि। इस सबके बावजूद भी मैं शून्य नहीं हूँ, न ही 'निष्य' (न-गण्य) हूँ। मैं कोई जाना-पहचाना भाव नहीं हूँ, लेकिन उन सबमें संलिप्त हूँ। बस मैं एक आकारहीन आत्म-भाव हूँ, सभी जानने-पहचानने योग्य भावों के ओर-छोर नापता हुआ आत्म-भावी मन से सक्रिय, किंतु स्व-स्थित हुआ सत्-असत् से परे (तुलनीय : नैवेह किंचनाग्र आसीत ... तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्यामिति – बृहदा. उप. १.२.१)। 'मैं' के आकारहीन आत्म-भाव की यही विशेषता है कि वह न तो मन की किसी स्थिति अथवा क्रिया में और न ही भाषा या

विचार की अर्थवत्ता में तद्रूपेण गम्य हो पाता है। किंतु उसकी तद्रूपेण गम्यता के लिए किसी अतिरिक्त प्रकाश (ज्ञान) की भी अपेक्षा नहीं है। 'मैं' की यही पहेली सर्वाधिक विस्मयकारी है, क्योंकि यहाँ सत्ता का प्रमाण किसी ज्ञान की अपेक्षा वाला नहीं है। अर्थात् 'मैं' के संदर्भ में 'क्या' (कैसे) का प्रश्न कोई वास्तविक प्रश्न न होकर मात्र एक गूढ़ विस्मय है जिसके भीतर गहरे संकेत छिपे हैं। आत्म-भाव की यह विशिष्टता उसे विषय-भाव से एकांततः पृथक् करती है। विषय-भाव के संदर्भ में सत्ता की प्रामाणिकता का आधार उसका तद्रूप ज्ञान है, जबकि आत्म-भाव के संदर्भ में ऐसा नहीं है। सत्तामीमांसा की उलझनों की कुंजी इसी आत्म-भाव की गहराई में छिपी है, जिसमें झाँकने का आमंत्रण हमें ऋग्वेद का विस्मयमूलक प्रश्न दे रहा है। आइए देखें, उसमें क्या 'नज़र' आता है?

सबसे पहले नज़र आने वाली चीज़ है मनस्क्रियाओं सहित विषय-भाव को समग्रतः **व्याप्त करने** वाली वैश्विक नियामकता (ऋत)। प्रश्न के विस्तार में ऋषि कहते हैं, 'पहले प्रकट हुआ ऋत मेरे पास आया, तभी मुझे वाणी प्राप्त हुई।' मन की सक्रियता के भीतर मुझे ऋत के दर्शन हुए जो मेरे समक्ष विषय-प्रस्तुति का आधार बना। अर्थात् जगत् (वस्तु) का इंद्रिय-संवेदों से विषयरूपेण बोध एक ऐसे विशाल (विराट्, विराज्) क्षितिज के अंदर घटित हुआ जो आत्म-भावी मन और विषय-भावी वस्तु-संसार के बीच एक अनिवार्य पूर्व-संगति को मान्य करता है। मेरी वाणी आत्म-भावी मन और विषय-भावी वस्तु-संसार के बीच एक अनिवार्य पूर्व-संगति को मान्य करती है। मेरी वाणी आत्म-भाव और विषय-भाव की इसी ऋत-जन्य पूर्व-संगति को अभिव्यक्ति देकर 'सत्य' होती है। वेद-मंत्र इसी सत्य की अभिव्यक्तियाँ हैं (१..१६४.३९-४०)। किन्तु इन अभिव्यक्तियों में 'मैं' व्यक्त नहीं, जिसे सत्य का बोध हो रहा है। वैदिक मंत्र उनके लिए व्यर्थ हैं जिन्हें 'मैं' का यह गूढ़ रहस्य अवगम्य नहीं। अतः मैं मन से गतिशील होकर, ऋत और वाणी से समृद्ध होकर भी नहीं जानता कि 'मैं' कौन हूँ।

अब, इस 'मैं' के अवगत नहीं होने के क्रम में भी हमें यह ज्ञात हो जाता है कि सत्ता-मीमांसा में 'समष्टि में व्यष्टि-प्रक्षेप' की व्याख्या की जो समस्या खड़ी होती है उसके संतोषजनक समाधान की दिशा क्या हो सकती है? यहाँ समस्या यह है कि कैसे एक ही चैत्त संरचना में सत्तारूपेण 'समष्टि' और 'व्यष्टि' इस तरह समाहित हों कि न केवल एक का दूसरे में अपचय न हो वरन् साथ ही समष्टि की प्रस्तावना व्यष्टि-प्रक्षेप के रूप में हो (क्योंकि व्यक्ति ही चेतना-विशिष्ट है)। उक्त ऋग्वैदिक समाधान में सदसत्पूर्व 'मैं' के चित्ताकाश में प्रकट ऋत ही वह चैत्त-संरचना है जिसमें जगत् का विषय-भावी समष्टि (वस्तु-संसार) रूप मन की अहंकृत आत्म-भावी सक्रियता रूपी व्यष्टि-प्रक्षेप द्वारा व्याकृत होता है। विषय-भाव और आत्म-भाव (संदर्भ : मन) एक ही चित्ताकाश में रूपायित होते हैं, दोनों में रूपान्तरण घटित होता है, वस्तु-सत्ता का विषय-भाव में और आत्म-सत्ता का अहं-भाव (आत्म-भाव) में। अतएव सत्तामीमांसा में आत्म-भाव और विषय-भाव दोनों ही निदर्शन-योग्य होते हैं, वे दोनों ही वाणी (भाषा) द्वारा प्रकट 'सत्य' से निर्दिष्ट होते हैं, तथापि उनसे 'सत्ता' की संपूर्ण व्याख्या नहीं हो

पाती, क्योंकि वह रहस्यात्मक 'मैं', जो उन दोनों की प्रस्तुति के आधार में है, उनसे संकेतित भी है, उनसे परे छूट जाता है। अर्थात् 'मैं' की पहेली का समाधान विषय-भाव और आत्म-भाव की व्याख्या द्वारा प्राप्तव्य नहीं है। वह 'मैं' न तो समष्टि की कोटि में और न ही व्यष्टि की कोटि में संग्रहणीय है, वह उन दोनों को व्याप्त कर उन दोनों से परे उनका ऐसा आधार है जो किसी विशेष ज्ञान-विधा द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता। इसलिए, सर्वाधार स्वरूप 'मैं हूँ, पर नहीं जानता (जान ही नहीं सकता) कि मैं कौन हूँ?' (क्योंकि सभी संभावनाओं के ज्ञान के पहले ही 'मैं' उनमें विद्यमान हूँ)। अर्थात्, 'मैं' स्वयं कभी एक प्रक्षेप नहीं हूँ, न ही मैं का चित्ताकाश प्रक्षेप-स्वरूप है, 'मैं' आत्मा ही हूँ, आत्म-भाव मात्र नहीं, सत्ता ही हूँ, सत्ता का कोई रूप विशेष नहीं। 'मैं' का चित्ताकाश स्वयंवेद्यता के स्वरूप वाला है, इसलिए वह सदैव प्रकट है और इस तरह उसके आधार से जगत्-भाव और आत्म-भाव भी सततरूपेण अभिव्यक्त हैं। जो अभिव्यक्त है वह एक प्रक्षेप है, बहिर्प्रक्षेप अथवा अंतर्प्रक्षेप। अहंकृत मन द्वारा ये दोनों प्रक्षेप संभव होते हैं जिन्हें सत्यासत्य रूपों में वाणी प्रकाशित करती है। अहंकृत मन अंतर्प्रक्षेप द्वारा 'व्यष्टि' रूप धारण करता है, और वही व्यष्टि रूप मन इंद्रिय-संवेदों में बहिर्प्रक्षेप द्वारा 'समष्टि' (जगत्) को विषय-भाव से उजागर करता है। द्रष्टव्य है कि बिना इस व्यष्टि-प्रक्षेप के जगत् या वस्तु-सत्ता का विषय-भावी स्वरूप प्रकाशित नहीं हो पाता, और बिना इस तरह के प्रकाश्य भाव के वस्तु-सत्ता की व्याख्या सत्तामीमांसा में संभव नहीं। दूसरी ओर, सत्तामीमांसा के अंतर्गत अंतर्प्रक्षेप द्वारा आत्म-तत्त्व की व्याख्या में अहंकृत मन का आत्म-भाव ही व्याकृत हो पाता है। इसीलिए ऋग्वैदिक ऋषि 'मैं' को 'मन से बँधा हुआ' कहते हैं। भारतीय धर्मों और दर्शन-संप्रदायों में 'मैं' को इस बंधन से मुक्त करने की बात कही गई है, और इसे ही मनुष्य मात्र का परम पुरुषार्थ माना गया है। इस मुक्ति के लिए किसी अतिरिक्त प्रयास या ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो पहले से ही मनस्प्रक्षेपों में 'स्पृष्ट' है, यद्यपि प्रकटत: 'दृष्ट' नहीं है। पाश्चात्य चिंतन और भारतीय चिंतन का मौलिक अंतर इस 'बंधन-मुक्ति' की धारणा को लेकर ही है, और इसी के चलते दोनों की सत्तामीमांसा में भी बड़ा अंतर है।

कथित ऋग्वैदिक विस्मय की कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक, जगत् (समष्टि) अहंकृत मन (व्यष्टि) के प्रक्षेप से प्रकट होकर भी मन से तदाकार नहीं है, क्योंकि यह प्रकटन एक वैश्विक नियामकता (ऋत) के माध्यम से हो रहा है जो मन की उपज नहीं है। केवल इतना ही नहीं, मन की सक्रियता भी इस वैश्विक नियामकता में अंशभूत है। दूसरी बात, यह सारी चैत्त (अवगमन) संरचना वाणी में प्रकट हो रही है जो इसलिए उस आद्य नियामकता (ऋत) को ही व्यक्त करती है जो 'व्यष्टि' और 'समष्टि' दोनों का ही आधार है, और इसलिए वाणी व्यष्टिरूपेण व्यवहार्य होकर भी समष्टिरूपेण अवगम्य है। (तुलनीय : ग्रीक 'लोगोस', कांट का 'रीज़न') तीसरी बात, ऋग्वैदिक विस्मय के मर्म में न केवल औपनिषद वैदांतिक ब्रह्मात्मैक्य का बीज विद्यमान है वरन् साथ ही इसकी व्यापकतर व्याख्या में बौद्ध और जैन सत्तामीमांसा के बीज भी उपस्थित दिखायी देते हैं। बौद्ध मत के अनुसार मनस्संकारों के निरसन

से आत्म-भाव के साथ-साथ जगद्-भाव (विषय-भाव) का भी निरसन घटित होता है। 'अ-दृष्ट' में (आत्मसत्ता) के लिए ऐसा निरसन ही मुक्ति है, लेकिन निरसन की इस परिघटना में न विषय-भाव बच पाता है न आत्म-भाव। अर्थात् तब सत्ता अपने अ-दृष्ट रूप में शून्यवत् है (बौद्ध), या फिर सभी भावों (आत्म-भाव तथा विषय-भाव) को अपने अंदर समेट लेने के कारण वह शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है, अद्वितीय आत्मा है (अद्वैत-वेदांत)। 'उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय' मूलक जैन सत्तामीमांसा को भी इसी तरह आत्म-भाव व विषय-भाव के शाश्वत रूपांतरण (उत्पाद), किसी भी भाव-प्रस्तुति की शाश्वत नियामकता (ध्रौव्य) और भावों के रूपांतरण में घटित शाश्वत रूप क्षय (व्यय) को एक ही आधारभूत सत्ता के लक्षणों के रूप में समझा जा सकता है। सांख्य आदि अन्य भारतीय दर्शन-संप्रदायों की सत्ता-मीमांसीय धारणाओं को भी इसी तरह उक्त ऋग्वैदिक सूत्र के प्रकाश में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जिस तरह हायडेगर द्वारा सूत्रबद्ध प्रश्न समूचे पाश्चात्य दर्शन के लिए एक सुदृढ़ प्रस्थान-बिंदु हो सकता है, उसी तरह संभवत: उक्त ऋग्वैदिक जिज्ञासा-सूत्र समूचे भारतीय दार्शनिक चिंतन के लिए एक स्थायी प्रस्थान-बिंदु का कार्य करता है।

अंत में, यह भी एक रुचिकर विचारणीय जिज्ञासा हो सकती है कि इस ऋग्वैदिक सूत्र और हायडेगर के सूत्र में से कौन सा सूत्र शुद्ध सत्तामीमांसीय दृष्टिकोण से अधिक मूलगामी है, अधिक आधारभूत है। पर इससे पहले हम ज़रा उस प्रश्न का स्मरण करें जिसका उल्लेख हमने हायडेगर के प्रश्न के विकल्प के रूप में आरंभ में किया था–"मानव-भाव भी वस्तु-भाव की तरह उदित और अस्त होता है, इसलिए उन दोनों को ही इस तरह संभव बनाने वाला आधारभूत अ-भाव क्या है?" अब ऋग्वैदिक विस्मय सूत्र का 'मैं' (आत्मा) ही वह अ-भाव है जो आत्म-भाव (मानव-भाव) और विषय-भाव दोनों को ही समन्वित रूप में निदर्शित कर सकता है। जैसाकि हमने पहले कहा था, आत्मा इस अर्थ में अ-भाव-वत् है कि वह सत्ता का कोई यह या वह भाव न होकर सभी भावों में समान रूप से आधार-स्वरूप है। सत्ता के किसी विशेष भाव का विकल्प सदैव उसके दूसरे भाव के रूप में उपस्थित होता है, जैसाकि आत्म-भाव और विषय-भाव के साथ, जबकि सत्ता का कोई विकल्प नहीं हो सकने के कारण उसे 'अ-भाव' के रूप में समझा जा सकता है। 'मैं' की यही 'अ-भाव'-मूलक सत्ता ही वह आधारभूत निर्विशेष भाव है जो मानव-भाव और वस्तु-भाव दोनों को संभव बनाता है। स्पष्ट है कि इसके प्रकाश में हायडेगर में सूत्रबद्ध प्रश्न–'वस्तुएँ क्यों हैं', 'अभाव क्यों नहीं?' का भी सम्यक् समाधान उपलब्ध है। स्वयं हायडेगर की व्याख्या में सत्ता के वैकल्पिक भाव ही मिलते हैं। जिस मानव-भाव को वह 'अभाव' कहता है वह वस्तुत: अपने अंतर में विषय-भावी आत्म-भाव की पीड़ा झेल रहा व्यष्टि-भाव है, जिसे इसका भान तो है कि इस पीड़ा से मुक्ति संभव है यदि विशुद्ध भाव-हीनता (अ-भाव) की स्थिति तक पहुँचा जा सके, किंतु पैर आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि यही तो 'मृत्यु' है, सभी सम्भाव्यताओं का अंत, जिससे मानव-व्यक्ति भयभीत है। मृत्यु अर्थात् आत्म-भाव का विचलन और विलयन। ऋग्वैदिक 'मैं' विशिष्ट होकर भी व्यष्टि-भाव से परे है,

मंत्र-द्रष्टा ऋषि के शब्दों में 'मर्त्य (आत्म-भाव और विषय-भाव) और अमर्त्य (अ-भाव, आत्मा), ज्ञात और अज्ञात दोनों एक ही केंद्र 'मैं' में स्थित हैं' (१.१६४.३८)। इस दृष्टि से मृत्यु जीवन का, मानव-भाव का अंत न होकर एक छोर है, जिसके दूसरे छोर पर अमरता विद्यमान है, और यह शाश्वत चैत्त स्थिति है। मनुष्य मृत्यून्मुखी होकर भी अमृतोन्मुखी है। मानव-भाव अपने शुद्ध सत्ता-रूप में मृत्यु का अतिक्रमण करता हुआ आत्मस्थ होता है। हायडेगर के 'भयभीत' मानव-भाव को ऋग्वैदिक 'मैं' में पूर्ण शांति मिल सकती है। हायडेगर के सूत्र से निष्पन्न पाश्चात्य सत्तामीमांसा को ऋग्वैदिक सूत्र से निष्पन्न भारतीय सत्तामीमांसा में पूर्ण विश्राम मिल सकता है।

20/293, सुन्दर नगर
रायपुर-492013

प्रामाण्य-विचार

(डॉ. अम्बिक्रादत्त शर्मा की प्रकाशनाधीन पुस्तक 'बौद्ध प्रमाण-दर्शन' की भूमिका)

यशदेव शल्य

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने प्रमाण विषयक अत्यन्त समृद्ध भारतीय दार्शनिक परंपरा को इस पुस्तक में बहुत सम्यक् रूप से प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस पुस्तक में उनके विचार का केन्द्र बौद्ध नैयायिक ही हैं, किन्तु बौद्ध न्याय गौतमी न्याय और वैदिक दार्शनिक चिन्तन-परंपरा के साथ वाद-विवाद में रहकर ही आगे बढ़ा है, इस कारण बौद्ध प्रमाण-मीमांसा पर विचार वास्तव में संपूर्ण भारतीय प्रमाण विषयक चिन्तन को आकलित किये बिना नहीं हो सकता। किन्तु डॉ. शर्मा के विचार का विषय मुख्यत: तार्किक प्रश्न नहीं रहकर दार्शनिक प्रश्न रहे हैं। यही कारण है कि इस पुस्तक में प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध पर और प्रमेय के स्वरूप पर मुख्य रूप से विचार हुआ है और इस प्रकार प्रत्यक्ष ही उनका मुख्य विषय रहा है; अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि से जुड़े तार्किक प्रश्न अवान्तरत: ही उनके विचार के विषय बने हैं। हम यहाँ इस समृद्ध परंपरा पर पुन: टिप्पणी करने के बजाय इस विषय को एक दूसरा आयाम देने का प्रयत्न करेंगे। हमारे इस प्रयत्न के संकेत अभी पीछे प्रकाशित हमारे दो लेखों[१] में देखे जा सकते हैं, यहां हम उसी विचार-क्रम को आगे बढ़ायेंगे।

प्रमाण का शब्दार्थ 'प्रमाकरण', 'प्रमा की प्राप्ति का साधन' है। अब, इस सरल शब्दार्थ में 'प्रमा' ऐसा शब्द है जो दार्शनिक विमर्श का एक केन्द्रीय विषय रहा है। सारे दर्शन-सम्प्रदाय इस एक शब्द की व्याख्या के विभिन्न प्रयत्न कहे जा सकते हैं। चार्वाकों, नैयायिकों और सर्वास्तिवादियों को इसमें एक छोर पर रखा जा सकता है और शून्यवादियों, विज्ञानवादियों और अद्वैतवेदान्तियों को दूसरे छोर पर रखा जा सकता है। प्रमा के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसे आधारभूत मतभेद होने पर प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में भी ऐसे आधारभूत मतभेद होना अनिवार्य है। इसी से नैयायिक जबकि प्रत्यक्ष और अनुमान की परिभाषा और व्याख्या को अपना सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य मानते दिखते हैं, नागार्जुन इसे अप्रतिष्ठ, वसुबन्धु अपरमार्थ या मिथ्या और शंकर इसे पशु-सुलभ मानते हैं। द्रष्टव्य है कि विज्ञानवाद में प्रमाण और प्रमेय के भेद

---

१ 'प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध-विचार' **उन्मीलन**, तथा **तत्त्व-चिन्तन**, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, २००४ तथा 'अवभासित अर्थ और उनका सत्ता-सम्बन्ध', **उन्मीलन**, जनवरी २००६)

के लिए कोई अवकाश नहीं रहता और शंकर के लिए शब्द के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं हो सकता—यद्यपि वे अनुभव की प्रामाणिकता की बात भी करते हैं। किन्तु उनके लिए यह अनुभव अपने से पृथक् किस प्रमेय के लिए प्रमाण होगा, यह समझना कठिन है। शब्द-प्रमाण की स्थिति और भी विचित्र है। जिन आप्तों का शब्द प्रमाण है उनके लिए प्रमाण क्या है और प्रमेय क्या है और इन का परस्पर सम्बन्ध कैसा है? निश्चय ही वहां प्रत्यक्ष : आर्ष अनुभव : ही प्रमाण है और ब्रह्म-वस्तु प्रमेय, किन्तु इस प्रमाण और प्रमेय में क्या कोई अन्तर हो सकता है? अब शब्द के सम्बन्ध में। किसी के लिए शब्द तभी प्रमाण हो सकता है यदि उस शब्द का वाच्य उस श्रोता के लिए प्रत्यक्ष का विषय रहा हो या उस विषय के जैसा हो, जैसे ऐतिहासिक कथन अथवा अन्य सूचनात्मक कथन होते हैं। किन्तु आर्षवचन ऋषियों से भिन्न जनों के लिए कैसे प्रमाण हो सकते हैं? उदाहरणत: आत्मा, ब्रह्म या देवता उनके लिए कैसे शाब्द प्रमेय हो सकते हैं जो इनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते? उनके लिए शाब्द प्रमेय शब्द-परिभाष्य मात्र ही हो सकते हैं। ऐसे आर्ष शाब्द प्रमेय, जो साधारण प्रत्यक्ष के विषय हो सकते हैं किन्तु होते नहीं, जैसे पुनर्जन्म, उनके विषय में यह बताने की अपेक्षा होगी कि वे हमारे प्रत्यक्षगम्य क्यों नहीं हो सकते और हमारे प्रत्यक्षगम्य नहीं हो सकने पर ऋषियों के प्रत्यक्षगम्य कैसे हो सकते हैं? न्याय ने आत्मा को आर्ष शब्द का प्रमेय और प्रत्यक्ष तथा अनुमान का भी प्रमेय माना है। किन्तु आर्ष शब्द का प्रमेय क्या वही होता है जो प्रत्यक्ष :अस्मिता बोध : का विषय होता है? स्पष्टत: ये दो सर्वथा भिन्न-रूप वस्तुएं होते हैं किन्तु नैयायिक उनको एक ही प्रमेय कहते हैं।

यहां हम इन विभिन्न सम्प्रदायों की प्रमाण और प्रमेय विषयक दृष्टियों को छोड़ते हुए इस पर एक दूसरा मार्ग अपनायेंगे। यह मार्ग है चेतना के स्वरूप और चेतना में प्रकट ज्ञान के रूपों पर विचार का।

सामान्यत: ज्ञान को चेतना का सहज और मूल धर्म कहा जाता है। (द्रष्टव्य है कि अधिकांश भारतीय दार्शनिक 'चेतना' के बजाय 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं और ज्ञान को आत्मा का मूल और नित्य धर्म कहते हैं। किन्तु यह ज्ञान और आत्मा दोनों की भ्रान्त समझ का द्योतक है, जैसाकि हमारे इन विषयक विवेचनों से देखा जा सकता है।[२] किन्तु वास्तव में चेतना का मूल धर्म संवेद है और ज्ञान-वृत्ति उसमें कुछ विकसित स्तर पर प्रकट होती है और क्रमश: अस्फुट से स्फुट और स्फुटतर रूप में विकसित होती है। वानस्पतिक चेतना और शेष जैव चेतना में इस दृष्टि से भेद किया जा सकता है और इस शेष जैव चेतना में इस दृष्टि से कृमि-कीट से मनुष्य तक और मनुष्य में जनसाधारण के अवर स्तरों से न्यूटन, आईंस्टीन, पाणिनी, गंगेश, वाल्मीकि, कालिदास तथा बुद्ध, अरविन्द, कबीर और रामकृष्ण परमहंस तक के स्तर-भेद देखे

---

२. आत्मा के स्वरूप के विवेचन के लिए द्रष्टव्य **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** तथा **तत्त्व-चिन्तन**।)

जा सकते हैं। ज्ञान के इसी स्तर-भेद के अनुसार प्रमाणों और प्रमेयों में भी स्तर-भेद और स्वरूप-भेद देखा जाना चाहिए।

चेतना के विकास के इस इतिहास में ज्ञान की दृष्टि से तीन आधारभूत क्रान्तियां घटित हुई देखी जा सकती हैं। प्रथम क्रान्ति जीवन के आविर्भाव के साथ चेतना में संवेदनशीलता के आविर्भाव के रूप में वानस्पतिक जीवन के उद्भव के साथ घटित होती है। दूसरी क्रान्ति ऐन्द्रिक जीवों के उद्‌भव के साथ घटित होती है। इसे चेतना का जगद्‌भाव में उन्मीलन और विषयोन्मुखता में प्रवर्तन कहा जा सकता है। और तीसरी क्रान्ति चेतना के आत्मचेतन होने के रूप में घटित होती है। जगद्‌भाव में उन्मीलित चेतना अपने को ज्ञानेन्द्रियों से ही सज्जित नहीं करती, कर्मेन्द्रियों से भी सज्जित करती है। यह जगद्भाव चेतना में विषयापेक्षा का रूप लेता है और इसमें चेतना अपनी इस विषयता में निश्शेष रहती है। बाह्यता और दैशिकता इन विषयों का एक मूल धर्म होता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि ये जीव ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों से भी युक्त होते हैं। इस विषयोन्मुख प्रवर्तन के लिए चेतना में वासनाएं, आवेग और आसक्तियां उद्भूत होती हैं जो इस चेतना के विषयों के रूप और गुण बनती हैं। चेतना के ये गुण या वृत्तियां उसके विषयोन्मुख प्रवर्तन की ही अंग होती हैं, जिनके बिना चेतना भौतिक और वानस्पतिक अवस्था में आत्मस्थ और अप्रवर्तित रूप में रहती है। इसके आगे के तीसरे चरण में चेतना विषयोन्मुख के विपरीत आत्मोन्मुख रूप में प्रवर्तित होती है और विषय को अपने से पृथक् प्रत्युपस्थित करती है। इस प्रकार आत्मचेतन मानव-चेतना विषय से विनिवर्तन से, विषयोन्मुखता के विपरीत प्रत्यङ्मुखता से परिभाषित होती है। इसके विषयों में स्वयं इसकी अपनी अस्मिता और इस अस्मिता के लिए पृथक् प्रस्तुत वस्तु-जगत् दोनों विषयि-विषय रूप में रहते हैं। किन्तु यह विषयी इसके विषय की सापेक्षता में ही विषयी होता है, अन्यथा मूलत: यह विषय ही होता है। चेतना के इतिहास में यह एक अद्‌भुत और आधारभूत क्रान्ति है जिससे शिल्पों, उद्योगों, कलाओं, शास्त्रों, विज्ञानों, धर्मों तथा अध्यात्म-साधनाओं का आविर्भाव हुआ। पाशव विषय शुद्ध रूप से ऐन्द्रिक और इस प्रकार जगद्वासना-जन्य होते हैं जबकि मानवीय विषय अतीन्द्रिय या इन्द्रियेतर आत्मगत अर्थों की इन्द्रिय-ग्राह्य अभिव्यक्तियां। इसका स्पष्टतम उदाहरण भाषा कही जा सकती है जो श्रव्य या दृश्य आकृतियों में व्यक्त होती है। ये आकृतियां ऐन्द्रिक विषय होती हैं किन्तु इन आकृतियों : ध्वनि-रूपों तथा लिपि : का प्रत्यक्ष भाषा का प्रत्यक्ष नहीं होता और इस प्रकार इसमें प्रमाण और प्रमेय का रूप बदल जाता है। वास्तव में यह सभी मानवीय कृतियों–घट, पट, लेखनी, मसि आदि के सम्बन्ध में भी उतना ही सही है। यह रूपान्तरण चेतना के आत्मचेतन होने, विषयोन्मुखता में आत्मबहिर्भूत होने के विपरीत प्रत्यङ्मुखता में आत्म-प्रस्तुत होने से संभव होता है। किन्तु ऐसा कैसे होता है?

द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल और उससे प्रवर्तित दर्शन-संप्रदाय चेतना को विषयापेक्षी के रूप में ही देखते हैं और उनकी यह विषयापेक्षी चेतना मानव-चेतना ही है। इस

प्रकार हमारा उपर्युक्त प्रतिपादन उनसे स्पष्टत: आधारभूत रूप में विपरीत हो जाता है। हमारे प्रतिपादन की युक्तता पाशव चेतना और मानव-चेतना के विषयों के स्वरूप की भिन्नता से सहज ही देखी जा सकती है। पाशव चेतना के विषय वासना, आवेग, बुभुक्षा आदि वृत्तियों के ही आश्रय होते हैं और वह अपनी इन वृत्तियों के साथ इन विषयों में अशेषत: तदात्म रहती है, और उसके विषय इन वृत्तियों से अविश्लेष्य रूप से उपरंजित रहते हैं, जबकि मानव-चेतना के विषय इन वृत्तियों से विश्लिष्ट, चेतना की आत्म-विषयता से व्यवहित और तद्बाह्य रूप में प्रस्तुत होते हैं। उदाहरणत: मनुष्य को प्रस्तुत भोज्य वस्तु प्रथम तो गाय के लिए घास के समान 'प्रदत्त भोज्य विषय मात्र' नहीं होती, वह मनुष्य द्वारा आत्मगत अर्थों के अनुरूप कल्पित और रचित, भूख और आस्वाद संवेदों के प्रत्ययात्मक साक्षात्कार-जन्य अर्थों के बाह्य विषय-रूपों में सर्जित होती है और उन संवेदों तथा वासनाओं की रूपान्तर-कर्त्तृ यह 'आत्मा' उन विपुल अर्थों की धातृ होती है जो अर्थ उसके प्रत्यङ्मुख साक्षात्कार में ही जन्म लेते हैं। इस चेतना के विषयों की पाशव चेतनागम्य विषयों से भिन्न एक दूसरी विशेषता इनकी ग्राहकता से स्वतंत्र ग्राह्यता तथा अतिक्रान्त सद्रूपता होती है। उदाहरणत: मनुष्य के प्रत्यक्षगत विषय 'मेरे' प्रत्यक्षगत 'विषय' होते हैं, जो मेरे देखने और इसकी विषयता से स्वतंत्र वस्तुएं : काष्ठ, मिट्टी, घटादि : होते हैं। इन विषयों के ग्रहण को ही विषयनिष्ठ ग्रहण कहा जाता है। इस प्रकार मानव-चेतना भी विषयापेक्षी है, किन्तु एक तो इसके विषय मात्र ऐन्द्रिक के अतिरिक्त अध्यवसायात्मिका बुद्धि, विवेक-बुद्धि, भावना आदि वृत्तियों मूलक भी होते हैं, और दूसरे, इसके लिए एक और विषय भी होता है जो इस सब प्रकार के विषयों से भिन्न प्रकार का, अनन्य साधारण, होता है। यह विषय है व्यक्ति की आत्म-प्रतिमा, जो मनुष्य को अपने लिए अपना साध्य बना देती है।[३] दूसरे, जैसाकि हमने ऊपर देखा, इसके ऐन्द्रिक विषय भी प्रत्यय- व्यवहित होते हैं। किन्तु दार्शनिक जब प्रमाणों की बात करते हैं तो उनके लिए प्रमेय ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य वस्तुएं ही होती हैं, जो वास्तव में प्रत्यक्षगम्य हो ही नहीं सकतीं और इन प्रमेयों के लिए प्रमाण उनके अनुसार वस्तु-सन्निकृष्ट ऐन्द्रिक संवेद होते हैं। वे यह नहीं देखते कि यह तथाकथित वस्तु चेतना के विषय से विनिवर्तन से, और इस विनिवर्तन के द्वारा विषय को स्वतंत्र प्रतिष्ठा देने के द्वारा ही अस्तित्व-लाभ करती है जिससे वह ऐन्द्रिय सन्निकर्ष की विषय हो ही नहीं सकती। इसलिए शंकर का मानव-प्रत्यक्ष को पाशव प्रत्यक्ष से अभिन्न देखते हुए प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को पशु-सुलभ व्यवहार के रूप में देखना प्रत्यक्ष विषयक

---

३. 'आत्म-प्रतिमा' के स्वरूप-विवेचन के लिए द्रष्टव्य हमारी पुस्तक **ज्ञान और सत्** का 'आत्म-प्रतिमा' अध्याय तथा **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक के 'मानव-तत्त्व' तथा 'संस्कृति-तत्त्व' अध्याय।

उपर्युक्त भ्रांति-जन्य ही कहा जा सकता है।[४] किन्तु उन्होंने भी शब्द-प्रमाण को स्वीकार किया है और उसके कुछ प्रमेय भी स्वीकार किये हैं, यद्यपि उन्होंने यह नहीं बताया कि इन प्रमाणों-प्रमेयों का सम्बन्ध कैसा होता है और इसमें भ्रान्ति और निर्भ्रान्तिता का कैसे पता चलता है?

किन्तु प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध को लेकर एक बड़ी समस्या यह है कि प्रमाण प्रमेय-सिद्धि में कभी सफल और कभी असफल रहता है। प्रमाणों की यह सफलता-असफलता प्रमाणगत निर्दोषता-सदोषतामूलक होती है या कि प्रमेयाश्रित? यह प्रमाणों की सफलता-असफलता देखकर ही जाना जा सकता है कि कोई प्रमाण सफल है या नहीं। बौद्धों ने इसका समाधान 'अर्थ-क्रियाकारित्व' से दिया है। इसका उदाहरण वे मृगतृष्णा से देते हैं जिसमें जल-प्रतीति जल-प्रापक नहीं होती। जल-प्रतीति के बाद जल-प्राप्ति अर्थ-क्रिया की सिद्धि है, वही प्रमेय है और इस सिद्धि के लिए क्रिया-प्रवर्तक जल-प्रतीति है, वही प्रमाण है। किन्तु प्रमाण कोई प्रतीति प्रमा-साधन होने पर ही होती है, सब प्रतीतियां प्रमाण नहीं होतीं। किन्तु कोई प्रतीति प्रमा-साधक हुई या नहीं, यह प्रमेय की उपलब्धि से ही ज्ञात हो सकता है। इस प्रकार प्रमाण प्रमेयाश्रित हो जाता है जबकि प्रमेय स्वाश्रित हो जाता है—अर्थ और उसका कारित्व दोनों प्रमेयगत ही होते हैं—सिकता की चमक या जल की झलक न पिपासा होते हैं, न पिपासा-शामक, पिपासा-शामकता प्रमेयगत होती है और सिकता की चमक तथा जल की झलक प्रमेय-सिद्धि की संभावना की ज्ञापक होती हैं। किन्तु इनका प्रमेय क्या है? जल या पिपासा-शमन? अब, पिपासा-शमन उसी प्रकार की एक विज्ञप्ति है जैसी सिकता की चमक या जल की झलक! किन्तु पिपासा-शमन और पिपासा-शामकता के बीच काफी बड़ी खाई है! पिपासा-शमन एक विज्ञप्ति है जबकि पिपासा-शामक एक बाह्य वस्तु, जो पिपासा-शमन की योग्यता रखती है। किन्तु यह योग्यता सिद्ध नहीं साध्य होती है। इस साध्य के साध्यवस्तु होने के लिए इसमें इस योग्यता के अतिरिक्त अन्य अनेक पूर्वापेक्षाएं होती हैं—जैसे, इसकी प्रवाह-शीलता, भिगोने या डुबोने की योग्यता, सबसे बढ़कर, इसकी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में विश्लेष्यता आदि। दूसरे, योग्यता होने पर भी उसका क्रियान्वयन किसी पिपासु के इसे पीने पर ही होता है। फिर जल तालाब में है तो वह जल पूरा नहीं पीया जाता, आदि। इस प्रकार पिपासा-शामकता-रूप अर्थ-क्रिया-कारित्व पशु के लिए तो इसकी प्रमेयता का अन्तिम प्रमाण कहा जा सकता है, किन्तु मनुष्य के लिए नहीं। मनुष्य के लिए कोई वस्तु पिपासा-शामक नहीं होने पर भी जल हो सकती है, जैसे सागर का जल या

---

४. अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारः। पश्वादिनां च प्रसिद्धोऽविवेक-पुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्य दर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादि व्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते। —ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, अधि. १

उबलता जल। इसके अतिरिक्त, द्रष्टव्य है कि अर्थ-क्रिया-कारित्व की यह परिभाषा सब उदाहरणों में लागू नहीं होती। जैसे चित्र या मूर्त्ति पर। दूसरी ओर स्वप्नगत प्रमेय स्वप्न-काल में अर्थ-क्रिया-कारी होते हैं किन्तु जगने पर नहीं होते। कहा जा सकता है कि जगने पर वे प्रत्यक्ष नहीं होते! किन्तु वैसे ही जागृतिकालीन वस्तुएं स्वप्न-काल में प्रत्यक्ष नहीं होतीं! इस प्रकार स्वप्नकालीन प्रत्यक्षों की प्रामाणिकता जागने पर असिद्ध नहीं हो सकती। स्वप्न-कालीन प्रत्यक्षों की जागृति में अप्रामाणिकता से स्वप्नगत की प्रामाणिकता का बाधित होना प्रमेय में काल-स्थायिता को और स्मृति की प्रामाणिकता को पूर्वगृहीत करता है, और सबसे बढ़कर, उसकी प्रत्यक्षातिक्रान्त सत्ता को पूर्वगृहीत करता है, जो सत्ता प्रत्यक्ष-ग्राह्य हो ही नहीं सकती। इस प्रकार प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय-सन्निकृष्टता की अपेक्षा एक अप्रमाणीय अपेक्षा ही रहती है।

प्रत्यक्ष के इस दोष के निवारण के लिए स्वयं प्रत्यक्ष को प्रमाण स्वीकार करने के लिए उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करना भी अनिवार्य हो जाता है जो उसे प्रमेय बना देता है, किन्तु इस प्रमेय का प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही हो सकता है। किन्तु सिद्धान्ततः अन्य प्रत्यक्ष एक नहीं, असंख्य अपेक्षित होते हैं और एक व्यक्ति के नहीं, अनेक व्यक्तियों के अपेक्षित होते हैं। अब, प्रत्यक्ष के प्रमाण होने के लिए उसका सिद्ध प्रमेय होना अपेक्षित होने से और यह सिद्धि इसी प्रकार के साध्य प्रत्यक्षों के आश्रित होने से प्रमाण-प्रमेय व्यवहार सिद्धान्ततः अप्रतिष्ठ हो जाता है। नागार्जुन ने यही दिखाया है। किन्तु साधारण व्यवहार अर्थ-क्रिया-कारित्व के आधार पर चलता है और इसी रूप में क्रिया-प्रवृत्ति और अर्थ-सिद्धि होती है। इसमें जो सैद्धान्तिक कठिनाई उपस्थित होती है वह चेतना की प्रत्यङ्मुख अनवगाह्यता के कारण। जैसाकि हमने पीछे देखा, वस्तु के प्रत्यक्षातीत वस्तुत्व का मूल प्रत्यङ्मुख चेतना द्वारा विषयता के अपने से बहिष्करण, अथवा कहें विषयता से अपने मुक्ति-लाभ-मूलक अध्यवसाय में निहित होता है। यह चेतना जब ऐन्द्रिक स्तर का अतिक्रमण कर अध्यवसायात्मिका बुद्धि के स्तर पर आरोहण करती है तब विषय अतल गहन वस्तुत्व में रूपान्तरित हो जाते हैं और ये वस्तुएं प्रमाणों के लिए अतिक्रान्त होने से उनकी अनन्त पार्यन्तिकता को जन्म देती हैं। सामने पड़ी वस्तु के लिए व्यवहारतः एक प्रत्यक्ष पर्याप्त प्रमाण होता है। उसमें प्रत्यक्ष और वस्तु अपृथक् होते हैं। भ्रान्ति की अवस्था में दूसरा प्रत्यक्ष प्रथम की अप्रामाणिकता को पूर्णतः सिद्ध कर स्वयं पर्याप्त प्रमाण हो जाता है। किन्तु 'भौतिक वस्तु' असंख्य प्रमाणों से भी प्रमाणित नहीं हो सकती। यह स्थिति अनुमान में और जटिल हो जाती है।

द्रष्टव्य है कि अनुमान पाशव चेतना के लिए भी प्रमाण बनता है, जैसे किसी को उग्र मुद्रा में दंड-हस्त देखकर गाय प्रहार का अनुमान करती है। किन्तु मानवीय अनुमान और पाशव अनुमान में एक आधारभूत अन्तर होता है : पाशव अनुमान जबकि साहचर्यपरक व्याप्तिमूलक होता है, मानवीय अनुमान साहचर्य-व्याप्ति-मूलक

भी होता है और कारण-कार्य-व्याप्ति-मूलक भी होता है। व्याप्ति दृष्ट साहचर्य के साधारणीकरण से सिद्ध होती है–धूम और अग्नि को एक या एकाधिक बार साथ देखकर इस साहचर्य को नियत मान लेना साहचर्य-व्याप्ति है। उग्र मुद्रा में दंड-हस्त व्यक्ति से प्रहारित होकर इस मुद्रा और प्रहार में नियत सम्बन्ध की स्थापना भी साहचर्य-व्याप्ति है। (द्रष्टव्य है कि पशु और मनुष्य उग्र मुद्रा और प्रहार का साहचर्य देखे बिना प्रथम प्रत्यक्ष में भी इस सम्बन्ध को देख पाते हैं, किन्तु वह सहज-बोध यहां अप्रासंगिक है।) किन्तु मनुष्य धूम और अग्नि में कार्य-कारण सम्बन्ध देखता है, साहचर्य मात्र नहीं। बौद्धों ने और ह्यूम ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को भी साहचर्यमूलक ही माना है, किन्तु सामान्यत: कारण-कार्य संबंध को जन्य-जनक सम्बन्ध के रूप में ही देखा जाता है। इस जन्य-जनक सम्बन्ध को कैसे समझा जाय, इसकी अपनी कठिनाइयां हैं जिस पर भारतीय दर्शन में बहुत विस्तृत विचार हुआ है, किन्तु यहां उन कठिनाइयों को भी अवान्तर मानकर छोड़ा जा सकता है। अब धूम को हम अग्नि के एक कार्य के रूप में देखते हैं, इसी प्रकार प्रस्तर-प्रहार से काँच टूटने के अनुगमन को भी क़ारण-कार्य रूप में देखते हैं। उदाहरणत: धूम को देखकर हमें वह्नि दिखायी नहीं देती तो हम मानते हैं कि वह धूम नहीं था, धुंध को हमने धूम मान लिया था। साहचर्य-सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं देखते। अब, व्याप्ति को लेकर जो यह आपत्ति की जाती है कि धूम-अग्नि का दस बार साहचर्य देखकर हम ग्यारहवीं बार के सम्बन्ध में निश्चय के साथ प्रवृत्त तो हो सकते हैं किन्तु इस निश्चय के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं होता, वह कारण-कार्यात्मक व्याप्ति के लिए ठीक नहीं कहा जा सकता। अनुमान की स्थितियां मानवीय ज्ञानान्वेषण, व्याख्या तथा घटनाओं की व्याख्या में अनेक प्रकार से बनती हैं–मृत व्यक्ति को देखकर पुलिस यह जाँच करती है कि इसकी मृत्यु कैसे हुई? इसमें अन्वेष्य कारण-कार्य-सम्बन्ध ही होते हैं। ये स्थितियां अत्यन्त जटिल भी हो सकती हैं और इनमें प्रमाणों की खोज में सहायक क्रान्तदर्शी कल्पना बनती है, प्रत्यक्ष या व्याप्ति नहीं।

किन्तु द्रष्टव्य है कि अनुमान प्रत्यक्ष में भी अन्तर्भूत रहता है। प्रत्यक्ष को प्रमाण-विचार में जिस रूप में देखा जाता है उसमें व्याप्ति-ग्रह भी रहता ही है। जैसे कुछ दृश्यों में स्पृश्यत्व का और कुछ में स्पृश्यत्व के अभाव का ग्रहण, कुछ दृश्यों में गोत्व का और कुछ में घटत्व या पटत्व का ग्रहण, इन सबमें व्याप्ति-सम्बन्ध रहता है। जैसे गाय की आकृति देखकर उसके साथ गोत्व के गुणों का दर्शन व्याप्तिमूलक ही कहा जा सकता है। इस व्याप्ति-ग्रहण की असफलता या बाध को ही भ्रान्ति कहा जाता है। मृग-तृष्णा जैसी भ्रान्तियां इसी व्याप्ति-ग्रह-मूलक होती हैं। प्रत्यक्ष के इस प्रकार व्याप्ति-ग्रह मूलक होने से ही प्रत्यक्ष में भ्रम की संभावना के लिए अवकाश बनता है। प्रत्यक्ष को इन्द्रिय-वस्तु-सन्निकर्षमूलक मानने पर भ्रान्ति के लिए अवकाश नहीं बन सकता। यदि सन्निकर्ष की बात मान भी लें तो भी वह सन्निकर्ष वस्तु के

लिए संकेत ही बनता है, वस्तुस्थानीय नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय का सन्निकर्ष वस्तु के केवल एक पक्ष से ही हो सकता है, शेष पक्ष तो उससे अनुमेय ही होते हैं। प्रमाण से भिन्न प्रमेय वस्तु वस्तुत्व और व्यावर्तकत्व युक्त रूप में ही प्रमेय होती है। उदाहरणत: गाय का प्रत्यक्ष जिस प्रमेय के लिए प्रमाण होता है वह प्रमेय सत्तासमवेत और अगोव्यावर्तक वस्तु होती है।

प्रमाण के इस विवेचन से स्पष्ट है कि यह प्रमेयाश्रित होता है और इस प्रकार स्वयं भी प्रमेय हेता है। प्रमाण-प्रमेय की यह परस्पराश्रयता नागार्जुन ने **वैदल्य सूत्र** और **विग्रहव्यावर्तनी** में बहुत स्पष्ट रूप से दिखायी है। किन्तु प्रमाण-प्रमेय का यह स्वरूप, या कहें पर-रूप, प्राणि-व्यवहार का सफल निर्वाहक होता है। मान लें कि इससे प्रमाण और प्रमेय की स्वयं में निस्स्वभावता सिद्ध होती है, जैसा कि नागार्जुन कहते हैं, किन्तु तब कहा जा सकता है कि प्रमाण-प्रमेय में परस्परभावता होती है। ये पृथक्-पृथक् ही निस्स्वभाव होते हैं, किन्तु संयुक्त रूप से ये सस्वभाव ही होते हैं। इनकी यह सस्वभावता ही प्राणि-व्यवहार की और मानवीय ज्ञानान्वेषण की आधार बनती है। अथवा कहें, प्राणि-व्यवहार का सफल निर्वाह और मानवीय ज्ञान की अपार समृद्ध अर्थ-राशि प्रमाण-प्रमेय की इसी पारस्परिकता के आधार पर खड़ी होती है।

यहां द्रष्टव्य है कि प्रमाण-प्रमेय का यह रूप चेतना के पर्याप्त अविकसित स्तर पर भी उपलब्ध होता है, किन्तु मानवीय चेतना इसमें बहुत आगे और बहुत गहराई में जाती है। उदाहरणत: पुलिस और गुप्तचरों द्वारा जाँच में प्रथम तो प्रत्यक्ष और अनुमान तथा इनके प्रमेय ही अत्यन्त जटिल होते हैं, किन्तु दूसरे, इन दोनों में उनसे कहीं अधिक क्रान्तदर्शी कल्पना का प्रयोग होता है। उदाहरणत: फर्श पर पड़े एक मृत व्यक्ति को लें, जो प्रत्यक्ष का विषय होता है। किन्तु पुलिस के लिए इस प्रत्यक्ष का प्रमेय मृत व्यक्ति नहीं होता बल्कि मृत्यु का हेतु होता है और उसके लिए प्रमाण अनुमेय होते हैं। तब ये अनुमानित प्रमाण ही प्रमेय : मृतक की मृत्यु के कारण : के स्वरूप के निर्धारक होते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन में इस प्रमाण-प्रमेय के इस रूपान्तरण की पराकाष्ठा ही होती है। इसमें प्रमाण और प्रमेय दोनों वैज्ञानिक सिद्धान्त के अन्तर्गत परिभाष्य होते हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण-प्रमेय परंपरा की अन्तिम और गौण कड़ी होता है और वह भी उस सिद्धान्त द्वारा ही परिभाषित होता है। किन्तु यदि थोड़ा ध्यान दें तो यही कुछ पशु-व्यवहार में भी होता है, क्योंकि चेतना सब स्तरों पर अर्थान्वेषी के रूप में ही प्रवृत्त होती है। उदाहरणत: जैसाकि हमने पीछे देखा, पाशव चेतना जगद्भाव के साथ प्रवर्तित होती है और वह भाव ही जीव की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के उद्भव का हेतु होता है, जो इन्द्रियां प्रत्यक्ष और उसके प्रमेयों का निर्धारण करती हैं। यहां एक जीव-व्यवहार को देखना सहायक होगा : मधुमक्खियों में एक छत्ते की सदस्य एक मधुमक्खी कहीं रस-संचय के लिए उपयुक्त रसमय पुष्पों का प्रत्यक्ष करती है तो वह अपने छत्ते से लौटकर अन्य मधुमक्खियों को उन

पुष्पों के स्थान की सूचना एक विशेष प्रकार की अंग-भंगियों के द्वारा देती है। इन अंग-भंगियों में उस स्थान की दूरी, दिशा और स्थिति की सूचना रहती है। अब यहां द्रष्टव्य है कि प्रथम मधुमक्खी का प्रमेय उसके विशिष्ट जैव प्रयोजन से स्वरूप-लाभ करता है, उसका प्रत्यक्ष उस प्रमेय से निर्धारित होकर प्रमाण-रूपता प्राप्त करता है और अन्य मधुमक्खियों के लिए उस मधुमक्खी की अंग-भंगियों का ऐन्द्रिय सन्निकर्ष प्रत्यक्ष बनता है जो एक प्रमेय-शृंखला के लिए प्रमाण-शृंखला की प्रथम कड़ी बनता है। ये सारे प्रमाण साहचर्य-व्याप्तिमूलक प्रत्यक्षात्मक होते हैं, यद्यपि इस व्याप्ति का आधार आगन्तुक आगमनात्मक सम्बन्ध नहीं होकर सहज बोधमूलक होता है।

प्रत्यक्ष को लेकर एक और विचित्र कठिनाई है। किसी प्रमाण के प्रमेय-साधक होने के लिए उसे प्रमेय-तंत्र होना चाहिए! किन्तु प्रत्यक्ष इन्द्रियमूलक होता है। मनुष्य के प्रत्यक्ष अधिकांशत: चक्षु और त्वङ्मूलक होते हैं और अन्यान्य जीवों के अन्य इन्द्रियमूलक हो सकते हैं, जैसे कुत्ते का प्रमुखत: घ्राणमूलक। आंग्ल दार्शनिक जोन् लॉक ने इस कठिनाई को देखा था और उसने मनुष्य के प्रत्यक्ष को आधार बनाकर उसके प्रमेय के इन्द्रिय से स्वतंत्र स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयत्न किया था। वह स्वरूप उसने वर्ण-रहित आकार में पाया था। किन्तु बर्कले ने आकार को भी इन्द्रिय-मूलक दिखाकर इस प्रतिपत्ति की निराधारता दिखा दी। ऐसे में प्रत्यक्ष के प्रमेय-तंत्र प्रमाण होने की संभावना समाप्त हो जाती है, क्योंकि ऐसे में प्रमेय प्रत्यक्षों से पृथक् कुछ नहीं रहता। बर्कले ने यही प्रतिपादित किया–प्रमेय को प्रमाणगत ही मान लिया। वैभाषिक बौद्धों ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में यह प्रमेय-तंत्रता देखी, किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूपायतन का अतिक्रमण कैसे करता है, यह उन्होंने नहीं बताया। कांट ने यह अतिक्रमण असंभव मानते हुए प्रत्यक्ष का प्रमेय चिद्गत अतिक्रांतता में (प्रत्यक्ष की प्रागनुभविक अतिक्रान्त कोटियों में) सन्निहित कर दिया। किन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि प्रमेय : वस्तु : को चिद्बाह्य और चित् को आवरक या उपरंजक मानने का ही क्या औचित्य है, जो कि दार्शनिकों ने प्राय: ही माना है? स्वयं काँट का फिनॉमिनॉ भी स्वलक्षण वस्तु पर आरोप ही है।

चित् को आवरक या उपरंजक मानने का आधार, या कहें उसके उपरंजक होने का एक प्रमाण, ज्ञान-गत भ्रान्ति हो सकती है। हम रज्जु को सर्प देखते हैं, इसका कारण चित्तगत वासनाओं का आरोप माना जाता है। किन्तु सर्प के सर्प-दर्शन और रज्जु के रज्जु-दर्शन में भी वैसी ही वासनाएं रहती हैं, और नहीं तो नाम का आरोप तो रहता ही है। नाम का आरोप वैसा ही है जैसा बर्कले के लिए दृश्य विषय पर इन्द्रिय द्वारा वर्ण और आकार का। इसे चित्त की विषयनिष्ठता के विपरीत विषयिनिष्ठता कहा जाता है। वासनाएं आदि चित्तगत ही होती हैं जिनसे चित्त की मुक्ति उसके विषयनिष्ठ होने : विषय को यथा-अर्थ देखने या ग्रहण करने के योग्य होने : के लिए आवश्यक होती है। चित्त की वासनाएं काम, क्रोध, लोभ आदि रूप

होती हैं, किन्तु आवरण विकल्प रूप : भाषा, विचार, कल्पना आदि रूप : तथा ग्राह्य-ग्राहक-भाव रूप तक भी देखे गए हैं। इस प्रकार यह संपूर्ण पशु-सुलभ जैव व्यापार ही नहीं, मानवीय ज्ञान-व्यापार और सृजन-व्यापार भी विषयिनिष्ठ हो जाता है। इस सब धारणा का मूल प्रमेय को बाह्य वस्तु-सत् रूप देखने, या उसके रूपक पर अतीन्द्रिय वस्तु-सत् रूप देखने में है जिसके लिए प्रमाण या तो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है या आर्ष प्रत्यक्ष, जो हमारे लिए शब्द-प्रमाणगम्य होता है किन्तु ऋषियों के लिए प्रत्यक्षगम्य। आर्ष प्रत्यक्ष के विषय देवता, आत्मा, ईश्वर, जगत्सृष्टि और धर्माधर्म आदि माने जाते हैं, किन्तु यदि मनवीय या जैव प्रत्यक्ष विषयिता का अतिक्रमण करने में असमर्थ है तो आर्ष प्रत्यक्ष विषयिता का अतिक्रमण कैसे कर सकता है? चक्षु किसी वस्तु का प्रत्यक्ष वर्ण और आकार के आरोप के बिना नहीं कर सकती, रसना स्वाद के आरोप के बिना और त्वक् स्पर्श के आरोप के बिना प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। और पुन:, इन्द्रिय विशेष का ही प्रत्यक्ष कर सकती है सामान्य या प्रत्यय का नहीं और अध्यवसायात्मिका बुद्धि सामान्य धर्म का ही प्रत्यक्ष कर सकती है, विशेष का नहीं, विवेक या धर्म-बुद्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्य और सदसद् का ही प्रत्यक्ष कर सकती है दृश्य-स्पृश्य गुणों का नहीं, इसी प्रकार आर्ष प्रज्ञा भी दृश्य-स्पृश्य का, ऊहापोहात्मक वितर्क का, काव्य-बोध-ग्राह्य भावनाओं, उद्वेगों आदि के अन्तर्गतार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। निश्चय ही ऋषि आँख से वर्ण और आकार का और अध्यवसायात्मिका बुद्धि से घटत्व आदि का भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं, किन्तु ये प्रत्यक्ष उसी प्रकार आर्षबोध के विषय नहीं कहे जा सकते जैसे वर्ण-गन्ध आदि शाब्दबोध के विषय नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार कोई ज्ञान विषयिता का अतिक्रमण नहीं कर सकता और परिणामत: कहा जा सकता है कि कोई प्रमाण प्रमेय का प्रापक नहीं हो सकता। किन्तु तब कहा जा सकता है कि ज्ञान में प्राप्य कोई निरपेक्ष तथता नहीं होती, आकांक्ष्य तथता ही होती है। निरपेक्ष तथता में चेतना की, या कहें जीव की, प्रवृत्ति ही नहीं होती। भूख लगने पर गाय घास के लिए प्रवृत्त होती है, घास उसके लिए भोज्य वस्तु रूप में प्रस्तुत होकर ही अनुसन्धेय हो सकता है, घास का वर्ण, आकार और गंध आदि उसके लिए उस प्रस्तुत के घास होने के प्रमाण बनते हैं, स्पर्श इन प्रमाणों का पोषक प्रमाण बनता है, यही इन सब प्रमाणों का प्रमेय है। इस प्रकार प्रमाण ही परस्पर पोषक होकर प्रमेय के प्रापक बनते हैं। इस प्रकार विषयिता विषय-तथता की उपलब्धि में बाधक नहीं होती बल्कि उसकी आधार होती है। विषयता का निरपेक्ष तथता के रूप में अनुसंधान भ्रान्तिमात्र है क्योंकि ज्ञान चेतना का धर्म है और चेतना अपना अतिक्रमण कर, अपने से बाहर आकर, किसी ज्ञेय तथता को नहीं जान सकती।

किन्तु तब भी हम विषयिनिष्ठता-विषयनिष्ठता की बात करते हैं। इनका क्या अर्थ होता है? इस भेद का ग्रहण, इसका बोध चेतना में उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मूलगामी क्रान्ति के घटित होने से संभव होता है जिसे हमने चेतना का आत्मचेतन

होना कहा है। यह भेद-ज्ञान विषयिता का विषयकरण कर उसकी आवरकता से मुक्त होने से संभव होता है। 'यह वस्तु मेरी चक्षु की अपेक्षा से इस वर्ण और आकार की है, मेरी भूख की अपेक्षा से भोज्य है, मेरी रसना की अपेक्षा से स्वाद विशेष की है, मेरे लिए इसका खाना हानिकारक है किन्तु तब भी मैं इसके प्रति लोभ का संवरण नहीं कर सकता, इसकी लाभ-हानिकारकता मेरी दैहिक रचना और इसकी भौतिक-रासायनिक रचना की सापेक्ष है आदि' यह सब हमारी ही विषयिता का विषयकरण है और इस विषयकरण के द्वारा हम इन विषयिताओं के स्वरूप के, उनकी तथता के, उनकी तथता में अवगमन को लक्षित करते हैं। दूसरे शब्दों में, यह चेतना द्वारा अपनी विषयिता का अतिक्रमण और विषय की तथता में अवस्थान है। इस अतिक्रमण को ऐन्द्रिक विषयिता के विषयकरण के उदाहरण से और प्रखरता से देखा जा सकता है—हम भोजन का रसास्वादन करते हैं किन्तु कुशल रसोइया व्यंजन ठीक बना या नहीं इसके लिए उस आस्वाद को अपनी तटस्थ प्रेक्षकता का विषय बनाता है, हम चित्र में वर्ण-सौष्ठव का अनुभव करते हैं, कलाकार उस सौष्ठव को तटस्थ प्रेक्षकता का विषय बनाकर उसका चित्र में प्रयोग करता है। यह विषयिता का मौलिक रूपान्तरण है, यहां विषयिता रूपांतरित होकर विषय बनती है—देखने वाले से पृथक्-बाहर अवलोक्य, आलोच्य, विवेच्य, ग्रहण में पक्षतः ग्राह्य और उस ग्रहण से स्वतंत्र, उसमें अनन्तर्भाव्य और परिणामतः ग्रहण के भ्रान्त होने की संभावना से युक्त। चेतना के इस आत्मविषयकरण को, जो उसकी प्रत्यङ्मुखता से संभव होता है, उसकी विषयता से मुक्ति भी कह सकते हैं, क्योंकि इससे चेतना उस विषयिता से मुक्त होती है जो उसे विषयवृत्ति में आत्म-बहिष्कृत कर पारदर्शी द्रष्टृता : विषयिता : से वंचित रखती है और विषय के स्वरूप को आवृत करती है, जो विषय-स्वरूप द्रष्टृता को ही गम्य हो सकता है, क्योंकि उसकी यह विषयिता वास्तव में वह आत्मगत परता होती है जिसे वह आत्मचेतन होकर विषयरूपेण आत्म-बहिष्कृत कर सकती है। जैसाकि हमने पीछे देखा, आत्मगत पर का यह बहिष्कार चेतना के लिए ज्ञातृरूपेण पूर्ण पारदर्शिता का प्रापक होता है। उपनिषद् ने जिसे सब ज्ञेयताओं से परे ज्ञाता कहा है—ज्ञातारं रे केन विजानीयात्? —वह ज्ञाता चेतना की यह पारदर्शी ज्ञातृता ही होती है, इसी पारदर्शिता को योगी चित्त-वृत्ति-निरोध से और कलाकार, वैज्ञानिक, नीति-विचारक आदि अपने अपने विषयों की निरपेक्ष तथता पाने की साधना से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आत्म-चेतन चेतना के ये उन्मेष चेतना के जगद्भाव में आद्य उन्मेष से नितांत भिन्न अर्थ-लोकों के प्रापक होते हैं। यह चेतना अनेक प्रकारक और अतल-अपार अर्थ-लोकों में विजृंभित होकर उनका साक्षात्कार करती है—कलाकार जैसे कला-कृति का अथवा ईश्वर जैसे अपने सृष्ट जगत् का। ये अर्थ भी इन्द्रिय-विषयों के समान ही विषय होते हैं और परिणामतः उन्हीं के समान प्रमाणापेक्षी होते हैं। एक प्रकार से ये चेतना के निकटतम होते हैं क्योंकि ये इन्द्रियविषयों के समान

देशगत नहीं होते बल्कि चेतना के अन्तर्गत ही होते हैं, किन्तु वास्तव में इनकी इस आन्तरता या ऐन्द्रिक विषयों की बाह्यता का यह भेद केवल भ्रान्त ही है। एक तो इनमें भी कुछ विषय बाह्य देशगत भी होते हैं–जैसे मूर्त्ति, चित्र, लेख और भौतिक वैज्ञानिक के विषय; दूसरे, जो विषय देशगत नहीं भी होते वे भी अदैशिक अर्थ में बाह्य ही होते हैं और सार्वजनिक तथा प्रमेय होते हैं। उदाहरण के लिए यहां प्रस्तुत विचार-विषय 'प्रमाण-स्वरूप' को ही लें। यह विमर्श का विषय है, इस विषय की हमारी सबकी संयुक्त समझ कम या अधिक सम्यक् या असम्यक् है और यह सम्यक्ता क्रमश: युक्ति-साध्य है। यह सब विचार-विषयों की प्रमा का स्वरूप है। इनसे भिन्न हमारी भावनाएं अपनी ज्ञेय-रूपता और सदसद्-रूपता में हमारी विषय होती हैं। उदाहरणत: दु:ख, सुख, प्रेम, द्वेष, दया, करुणा, कृपणता, उदारता आदि हमारी अपनी अवस्थाएं होती हैं जिनमें हम तादात्म्य रूप से रहते हैं, किन्तु आत्मचेतन चेतना के लिए ये अपने से बाहर, स्वतंत्र स्वरूपात्मक विषय रूप में ग्राह्य और विमृश्य भी हो सकती हैं। ये विषय प्रमा के लिए इन्द्रियार्थों से कहीं अधिक जटिल होते हैं, ये हमारी अपनी अवस्थाएं होने पर भी सार्वजनिक भी होते हैं, जिनको लेकर हम दूसरों से बात कर सकते हैं, उनसे परामर्श ले सकते हैं, उन्हें समझने में दूसरों से सहायता ले सकते हैं। मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण-प्रणाली हमारी मनोऽवस्थओं की इसी सार्वजनीनता को पूर्वगृहीत करती है, यों नैतिक बोध और चित्त-वृत्ति-निरोध का प्रयत्न ये सब भी मनोऽवस्थाओं के इस रूपान्तरण को पूर्वगृहीत करते हैं। इन वृत्तियों की सदसद्रूपता की प्रमा के लिए श्रुति, स्मृति और सदाचार को, और सबसे बढ़कर आत्म-प्रत्यक्ष को प्रमाण कहा गया है। इनकी यह प्रमाणता : आत्म-प्रत्यक्ष सहित : उसी प्रकार परत:प्रमाण या प्रमेय होती है जिस प्रकार हमारे इन्द्रिय विषयों की। एक लेख[५] में हमने रामकृष्ण परमहंस का उदाहरण दिया था कि किस प्रकार वे अपने अनुभवों की युक्तता के निर्धारण के लिए शास्त्र का साक्ष्य देखते थे। यहां एक अन्तर्विरोध है जिसका चेतना को अतिक्रमण करना होता है : चेतना जबकि द्रष्टृभाव को वैयक्तिक रूप से ही सिद्ध कर सकती है, उसे इस भाव की सिद्धि के लिए वैयक्तिकता का उपाधिरूपेण अतिक्रमण करना होता है। यों यह अतिक्रमण चेतना के आत्मचेतन होने की भी पूर्वापेक्षा है, इसलिए यह मनुष्य मात्र में भी न्यूनाधिक सिद्ध रहता है, किन्तु यह प्रयत्न से अधिकाधिक साध्य भी होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि मानवीय ज्ञान के अनेक आयाम हैं और उन आयामों के अनुसार अनेक प्रमेय और उनके प्रमाण हैं। दार्शनिकों ने प्रमाण-विचार में केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों और उनके विषयों को ही विषय बनाया है।

---

५. 'अवभासित अर्थ और उनका सत्ता-सम्बन्ध', पूर्वोल्लिखित।

सभ्यता की धारणा और भारत में नृत्त : कला की स्वायत्तता का प्रत्यय

मुकुन्द लाठ

इतिहास की परख-समझ में विचार और कला जैसे क्षेत्रों को महत्त्व देना, यह इतिहास-बोध में एक नई बात है – नया उन्मेष कहना चाहिये। पुराना इतिहास-बोध – जो अब भी हम पर बहुत कुछ हावी है - वह मनुष्य के कर्म पर ही एकाग्र था, और कर्म में भी राज्य-राजनीति, यही प्रधान थे। हमारे यहां के पुराणों में मनुष्य की काल-यात्रा का जो बोध उभरता है, उस में भी कर्म ही मनुष्य को आँकने की कसौटी है; पर साधारण इतिहास से एक बड़ा अंतर भी है : पुराणों में कर्म का अर्थ राज्य-राजनीति की उलट-पलट या उथल-पुथल से नहीं बँधा है, व्यापक है - उसका संबंध मनुष्य की मूलभूत कर्म-चेतना से है, औचित्य-बोध से - धर्म से - उसके आरोह-अवरोह, उदात्त-अनुदात्त से। मर्म की बात यह है कि मनुष्य के व्यवहार को यहां मनुष्य की चेतना से आँका गया है, उस चेतना से जो व्यवहार को प्रेरित करती है - यों व्यवहार को चेतना-प्रसू देखा गया है।

इतिहास में विचार और कला जैसी अभिव्यक्तियों को महत्त्व देना भी मनुष्य को उसकी चेतना से आँकने की दिशा है, बाह्य-व्यवहार मात्र से नहीं—और यह नई दिशा व्यवहार को भी राज्य-राजनीति के घेर से निकाल कर बृहत् क्षेत्र दे देती है। राज्य-बदल की घटनाओं में घटनाओं की यादृच्छिकता ही उभर कर आगे आती है, किसी कर्म-चेतना की आदर्श आंतरिकता नहीं। कह सकते हैं कि जो इतिहास-दृष्टि विचार और कला जैसे पक्षों को तोल देती है, वह पुराण-दृष्टि से भी विपुलतर है – वह मनुष्य के कर्म को ही नहीं, भाव और ज्ञान को भी अपनी व्यापकता में समेटती है। साथ ही, यह भी कहना न होगा कि आज की इतिहास-दृष्टि में और पुराण-दृष्टि में एक और महत् भेद है : यह कि आज का इतिहास मनुष्य के व्यवहार और व्यवहार में उपलब्ध साक्ष्यों को जाँचता-कूतता हुआ, काल-क्रम में करीने से सजाता हुआ, उन्हीं के आधार पर मनुष्य की काल-यात्रा के चित्र उकेरता है – इसी पटल पर मनुष्य की चेतना के परिवर्तन, विकास या ह्रास को परखता है। तभी अपने को वस्तु-तंत्र घोषित करता है, और अपनी प्रामाणिकता को विज्ञान की श्रेणी में रखना चाहता है; जब कि पुराण-दृष्टि में ऐसी साक्ष्य-मूल प्रामाणिकता या वस्तुतंत्रता की चेष्टा है भी तो अति गौण है। पुराण-दृष्टि की प्रामाणिकता आर्ष या अतिलौकिक है, जो आज अयुक्त कहलाने के कारण अमान्य है।

पर पते की बात यहां *दृष्टि* की है। किसी न किसी इतिहास-दृष्टि के बिना विगत के किसी इतिवृत्त का – घटना-प्रवाह का - कोई सार्थक चित्र नहीं उभर सकता, जिसके बारे में कहा जा सके कि 'यह हुआ था', 'वृत्तान्त यह है'। यही बात कहानी कहने में होती है, और वहां किसी वस्तु-तन्त्र साक्ष्य की अपेक्षा ही नहीं होती – पर कहानी हो या इतिहास, दोनों ही केवल घटनायें नहीं गिनाते, घटनाओं को अवयवी का रूप देते हैं जो दृष्टि सापेक्ष है। तो, *दृष्टि* साक्ष्य का अतिक्रमण करती है – इतिहास रच रही हो या कहानी, दृष्टि साक्ष्य को अपना *विषय* बनाती है, साक्ष्य से बँधती भी है तो साक्ष्य को देखती, उसके ऊपर रहती है : साक्ष्य उसे नहीं बनाता, उलटे वही साक्ष्य को चुनती-बुनती, उसे इतिवृत्त का व्यवस्थित रूप देती है। साक्ष्य क्या है, साक्ष्य में सार्थक क्या है, यह भी दृष्टि ही तय करती है। तभी इतिहास-बोध में सहज अनेकान्त है, क्योंकि दृष्टि में ही सहज अनेकान्त होता है – वस्तुतन्त्रता की मांग के साथ भी। सच तो यह है कि वस्तुतन्त्र क्या, प्रामाणिक क्या, यह प्रश्न भी दृष्टि से अछूता नहीं होता - दृष्टि और प्रामाणिकता, विचार-बुद्धि के दो सहगामी पक्ष हैं – अपने मर्म में अयुतसिद्ध हैं।

पर दृष्टियों में कई तरह के भेद होते हैं। कहानी कहने में – और इतिहास रचने में - व्यापक-संकीर्ण का भेद एक बड़ा और गहरा भेद होता है– दिख भी जाता ही है। आज के इतिहास-बोध की विलक्षणता, साफ़ ही, उसकी व्यापकता में है। दृष्टि यहां इतिहास के माध्यम से मनुष्य का ही आकलन करना चाहती है। तभी इस बोध का एक प्रधान आधार-प्रत्यय 'सभ्यता-संस्कृति' की धारणा में रूप लेता है। आज की इतिहास-दृष्टि के लिये 'सभ्यता' और 'संस्कृति' को मनुष्य का ही पर्याय कहा जा सकता है। सभ्यता और संस्कृति मूलत: एक ही धारणा के प्रत्यय हैं। पर सभ्यता और संस्कृति को अलग भी किया जाता है – 'संस्कृति' अधिक व्यापक धारणा है, 'सभ्यता' संस्कृति के अंतर्गत है। संस्कृति मनुष्य मात्र को परिभाषित करती है। मनुष्य बिना संस्कृति के नहीं होता। संस्कृति मनुष्य का वह धर्म है जो उसे प्रकृति से अलग, उससे ऊर्ध्व और स्वतंत्र करता है। पशु-भिन्न करता है – प्रकृति के कार्य-कारण प्रवाह से मुक्त कर उसे ज्ञातृत्व, भावयितृत्व, कर्तृत्व की क्षमता देता है। प्रश्न हो सकता है कि यह धर्म मनुष्य में कहाँ से आता है? मनुष्य प्रकृति का ही अंग है, प्रकृति-प्रवाह में उपजा है, उस प्रवाह के साथ ही बहता है, उसमें प्रकृति के ही धर्म होने चाहियें। संस्कृति अगर अलग कुछ है भी तो प्रकृति-जात ही कुछ होनी चाहिये। उसे प्रकृति से अलग और ऊर्ध्व बताने का क्या आधार, क्या युक्ति? प्रश्न गहरा है, मनुष्य के स्वरूप से संबंध रखता है, और यहां दृष्टि-भेद भी स्वाभाविक हैं – और दृष्टि का अनेकान्त यहां सर्वविदित है ही : मनुष्य को जड़ से लेकर चित् तक कई रूपों में देखा गया है। पर मनुष्य की चेतना सदा अपने को जड़ और अन्य जीवों से

अलग करती आई है, प्रकृति के प्रवाह से अपने को अलग ही नहीं, ऊपर समझती आई है। मनुष्य प्रकृति को *समझता* है - या समझने की ओर मुड़ता तो है ही। *समझ* की चाह मनुष्य ही में होती है — और समझ में एक अंतर्निहित आत्म-दृष्टि भी होती है : समझ में अपने को देखते-परखते *समझ* की बात होती है, जो मनुष्य में ही होती है। इस आत्मदृष्टि की जड़ मनुष्य की आत्मचेतना में है जो उसे स्वतन्त्र करती है, ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व, भावयितृत्व में अधिष्ठान देती है। यों प्रकृति के कार्य-कारण-प्रवाह की परतन्त्रता से उठा कर उसे एक अपना अलग धरातल देती है, जहां से मनुष्य प्रकृति को देख-परख सकता है, उसके कार्य-कारण को नापते हुए उसे अपने विलक्षण प्रयोजनों का अंग भी बना सकता है। प्रकृति के कार्य-कारण प्रवाह के *भीतर* परतन्त्र बहते हुए, उसी के क्रम की एक कड़ी रहते हुए यह संभव नहीं।

मनुष्य विचार कर सकता है, प्रकृति के — और अपने — अन्यथा होने की कल्पना कर सकता है। तभी प्रकृति को तटस्थ देखता हुआ उसे *समझने* की बात कर सकता है — प्रकृति से ऊपर उठ कर प्रकृति *पर* विचार करता है। और तभी प्रकृति के परे (इहलोक से परे) लोकोत्तर की भी सोचता हैं। प्रकृति *में* रहते हुए यह अकल्पनीय है। प्रकृति क्या है, मनुष्य का उससे संबंध क्या है, ऐसे प्रश्न — और उनके उत्तर - भी मनुष्य की चेतना में तभी जागते हैं क्योंकि वह सर्वथा प्रकृति-ग्रस्त नहीं है — कहीं प्रकृति-मुक्त भी है। पर हम विचार में स्वतन्त्र हैं तो हम प्रकृति की धारणा को ही दूसरा रूप भी दे सकते हैं : उसे ऐसी व्यापकता दे सकते हैं कि मनुष्य की विलक्षणता का भी उसमें स्थान हो — क्योंकि युक्ति कहती है कि इसके बिना मनुष्य का प्रकृति से कोई संबंध ही नहीं बनेगा, जब कि हम प्रकृति के बिना भी मनुष्य होने की कल्पना नहीं कर सकते। पर ऐसी किसी व्यापक धारणा में भी जड़ या भूत-जगत् और जीव-मात्र से मनुष्य का कोई सार्थक भेद तो करना ही पड़ेगा, जो उसे स्वतन्त्र भी रखे। संस्कृति की धारणा के मूल में मनुष्य का स्वातन्त्र्य ही है।

यह न हो तो इतिहास की धारणा का भी कोई अर्थ नहीं होगा। होने को वृत्तांत प्रकृति की काल-यात्रा का भी हो सकता है। पर उसे इतिहास का नाम देना हमें असमंजस ही लगता है। हम जिसे इतिहास कहते हैं वह मनुष्य का ही इतिहास होता है, जड़ का नहीं होता — जड़ का इतिहास एक कारण-कार्य क्रम मात्र होगा; मनुष्य का इतिहास मनुष्य को स्वतन्त्र मान कर चलता है। आज की इतिहास-दृष्टि कहती है कि अपने इतिहास में मनुष्य अपने आप को *बनाता* भी चलता है — मनुष्य की पहचान, उसकी समझ, ही नहीं, उसका होना भी इतिहास है। तभी इतिहास के दर्पण में वह अपने स्वरूप को देख और जान सकता है। मनुष्य संस्कृति है, और संस्कृति स्थिर नहीं, चल है, गतिशील, परिवर्तनशील है, और संस्कृति का इतिहास मनुष्य की गति है, उसकी काल-यात्रा है - ज्ञान के रूप में इतिहास उस काल-यात्रा का

आत्मज्ञान है। यों मनुष्य का ही ज्ञान है। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य संस्कृति-सर्वस्व है तो ज्ञान रूप में इतिहास मनुष्य का अपने स्वरूप का ही ज्ञान है। तो इस दृष्टि में यह भी उभरता है कि संस्कृति मनुष्य की *कृति* होते हुए भी (क्योंकि मनुष्य स्वतन्त्र है) मनुष्य को बनाती है। तो इतिहास का ज्ञान इस बात का भी ज्ञान है कि मनुष्य ने अपने को क्या रूप दिया है। पूरी बात का तात्पर्य यह कि मनुष्य प्रकृति से ऊर्ध्व और स्वतन्त्र है, पर अपनी काल-यात्रा में अपने को बनाता भी चलता है, तभी मनुष्य का इतिहास मनुष्य की पहचान है।

सभ्यता को संस्कृति का ही एक पर्व कहना चाहिये। साधारण तौर पर हम सभ्यता को रूप-आकृति की बृहत्ता और जटिलता से आँकते-परखते हैं — संस्कृतियों में नगरों का उदय, उन्नत-योजनाबद्ध तकनीक-बोध और जीवन में उसकी बुनावट — इसे 'संस्कृति'-भिन्न 'सभ्यता' का एक प्रकट-प्रत्यक्ष सा लक्षण देखा-कहा जाता है। पर मर्म की बात चेतना की गति है — जो कहे-अनकहे सभ्यता की स्वीकृत धारणा की नींव भी है। मनुष्य की अभिव्यक्तियों को, उनमें चेतना के विकास-विस्फार को भाँपते हुए ही 'संस्कृति' से उठ कर 'सभ्यता' की बात सार्थक होती है। सभ्यता के बाह्य आयोजनों के पीछे चेतना की पहले-से-और-भी-आत्मचेतन-होती परोक्ष गति भी भाँपी जा सकती है, जो सभ्यता को संस्कृति से अलग ही नहीं, ऊर्ध्व करती है। 'सभ्यता' की धारणा में ही यह बोध निहित है, चाहे सदा आगे न लाया जाता हो।

सभ्यता के साथ चेतना की — मनुष्य को मनुष्य बनाती आत्मचेतना की — एक ऊर्ध्वतर प्रेरणा के साक्ष्य भी उभरते देखे जा सकते हैं : चेतना अब प्रकट ही अपने प्रति और अधिक सचेत हो जाती है - विचार अपनी परीक्षा करता हुआ संगत-व्यवस्थित रूप साधने लगता है; शास्त्र बनते हैं; ऊहापोह के साथ बदलते बढ़ते हैं। अन्वीक्षा, आत्मालोचना की दिशायें लेता हुआ विचार अब अपने पर भी विचार करने लगता है; साथ ही, चेतना की सभी वृत्तियों में एक भूमा का प्रवेश देखा जा सकता है। मनुष्य अपने कर्म, भाव, ज्ञान, सबमें *आत्मविमर्श के साथ* सत्य या सार्थकता का संधान करने लगता है। कला भी विमर्श और जागरूक संधान के धरातल पर आ रहती है।

सभ्यता की कुछ ऐसी ही बृहत् धारणा ने ही इस धारणा को महत्त्व दिया है। पर सभ्यता इस धारणा में काल की भी वस्तु है। बनती है, मिटती भी है। सभ्यता ठहरती नहीं है। एक नश्वर यात्रा का अंग होती है। पर आत्मचेतना की यात्रा। तभी एक सातत्य में पलती है, एक अवयवी का सा रूप पालती है -जो खुला भी होता है : पीढ़ी-दर-पीढ़ी की गुँथी हुई *परम्-परा* बनाता है। परम्परा में अपना एक विमर्श होता है, सार्थकता का संधान होता है जो व्यक्तियों में रहता हुआ भी व्यक्तियों से ऊर्ध्व

होता है। पर सभ्यता की चेतना को भी व्यक्तियों की तरह ही कभी बढ़ता हुआ, कभी ठहरा हुआ या ठिठका हुआ भी देखा जा सकता है। यों हम सभ्यता के गतिशील, व्यक्ति-ऊर्ध्व व्यक्तित्व की बात कर सकते हैं। पर व्यक्ति-भेद की तरह ही सभ्यताओं में भेद की बात भी कर सकते हैं - कला में ही नहीं, मनुष्य की सभी वृत्तियों में - कर्म, ज्ञान, यहां तक कि अध्यात्म और धर्म में भी हर सभ्यता का अपनापन, अपना व्यक्तित्व देखा जा सकता है। बड़ी सभ्यताओं के विराट परिसर के अंदर भिन्न क्षेत्रों में ही नहीं एक ही क्षेत्र में भिन्न परम्परायें, परम्मपराओं के व्यूह, उनके संवाद, विवाद, उनका आत्मालोचन, उन्मेष - ये सब देखे जा सकते हैं। परम्पराओं में सातत्य, सातत्य को तोड़ती-बनाये-रखती क्रान्तियां देखी जा सकती हैं — क्योंकि सभ्यता बनी रहे तो सातत्य की गति में गतानुगतिकता और रूढ़ि के साथ प्रतिभा का स्फोट भी देखा जा सकता है, जो परम्परा में नये अंतरिक्ष, नई क्रान्तियां लाती है। पर सभ्यता के एक-परिसर में भिन्न परम्परायें अपने भेदों को, अपने रूढ़ि-प्रतिभा के विचित्र स्पंद को लिये हुए भी मिल कर एक विराट् समग्र क्षेत्र बनाती हैं, और भिन्न क्षेत्रों की यात्रा का भी एक बृहत् संघ बनता है और इसी यात्रा को सभ्यता विशेष की काल-यात्रा कहा जाता है।

विचार, दर्शन, विज्ञान, कर्म-संकल्प .. के विमर्श-प्रधान क्षेत्रों की ओर दृष्टि रखें तो हम देख सकते हैं कि सभ्यता की नींव में जागरूक आत्मचेतना है और इसलिये सभ्यता को संस्कृति से बढ़ कर मनुष्य की ऊर्ध्वतर कृति कहना उचित है। सभ्यता में रहते हुए, उसके इतिहास का भावन करते हुए, हम सचेतन आत्मदृष्टि से यह देख सकते हैं कि सभ्यता मनुष्य को बनाती है– और आगे का मार्ग जागरूक विमर्श से तय कर सकते हैं। पर यहां एक टेढ़ा प्रश्न हो सकता है : आत्मचेतना तो व्यक्ति में ही होती है, समष्टि में नहीं, जब कि सभ्यता स्वरूप से ही समष्टि-निष्ठ है - तभी हम कह सकते हैं कि सभ्यता मनुष्य को बनाती है : क्योंकि व्यक्ति समष्टि के बिना अकल्पनीय है। पर मनुष्य आत्मचेतना से लक्षित हो तो 'मनुष्य को बनाने' का अर्थ यहां 'मनुष्य *व्यक्तियों* को बनाना' ही हो सकता है — तात्पर्य यह उभरता है कि किसी सभ्यता में पलते व्यक्ति स्वभाव से उस सभ्यता के अनुरूप ढलते हैं — उनका व्यक्ति-भाव या व्यक्तित्व उनकी जनक सभ्यता से अनुप्राणित होता है। स्पष्ट ही, आत्मचेतना व्यक्ति में ही होती है; व्यक्तित्व आत्मचेतना को ऊह्य रखता है। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व-भावयितृत्व, ज्ञातृत्व, ये व्यक्ति ही में होते हैं, समष्टि में नहीं। यह ठीक है, पर हम सभ्यता के व्यक्तित्व की बात भी करते हैं, और सार्थकता के साथ ही करते हैं, और सभ्यता को भी ऐसी चेतना से लक्षित मानते हैं जो अनात्मचेतन नहीं। यह बात केवल लक्षणा की नहीं है। ऐसी नहीं है जैसे हम किसी महान बड़ या पीपल के या नदी या पर्वत के अपनेपन की बात करते हुए, व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग करें —

ऐसे प्रयोग में आत्मचेतना की ध्वनि नहीं होती, होती भी है तो नगण्य, केवल लाक्षणिक, क्योंकि वहां आत्मचेतना तात्पर्य के बाहर होती है, उसकी ओर कोई वास्तव संकेत नहीं होता। पर सभ्यता के व्यक्तित्व की बात में आत्मचेतना की ध्वनि पूरी गूंज के साथ छाई रहती है। क्योंकि सभ्यता के कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व-भावयितृत्व की बात किये बिना उसका स्वभाव-स्वरूप ही नहीं बनता दिखेगा, खोखला रह जायेगा। सभ्यता की धारणा ही ठीक खड़ी नहीं हो पायेगी। पर ऐसा है तो फिर प्रश्न सहज है कि आत्मचेतना का समष्टि से और यों सभ्यता से क्या संबंध? आत्मचेतना की यहां किस रूप में संगति और प्रासंगिता बन सकती है?

प्रश्न युक्त है, पर जिस दिशा में जाता है, हमारी विवेचना को पथ-च्युत कर दे सकता है। अलग विवेचना चाहता है यह प्रश्न, जिसका यहां स्थान बनता नहीं लगता। यहां इतना ही कह कर हम आगे बढ़ सकते हैं कि मनुष्य में व्यक्ति-भाव और संस्कृति-सभ्यता की निर्मिति, ये दोनों ही एक प्रकृति से ऊर्ध्व, स्वतन्त्र विमर्श-चेतना के साथ उभरते हैं, तभी व्यक्ति की ही नहीं समष्टि की जीवन-यात्रा, दोनों साथ ही प्रकृति से विलक्षण यात्रायें बनती हैं। यों एक विमर्श में जागती चेतना का मनुष्य के मनुष्य होने से ही सामान्य का संबंध बनता है। आत्मचेतना व्यक्ति में होती है, पर संस्कृति या सभ्यता में जिस चेतना का प्रकाश उभरता है उसे अपने मर्म में ऐसी चेतना से सर्वथा विच्छिन्न नहीं किया जा सकता जो व्यक्ति में आत्मचेतना का रूप लेती है - हालांकि व्यक्ति-चेतना के अर्थ में सभ्यता को आत्मचेतन कहना स्पष्ट ही विसंगत होगा। पर यहां एक और कथन उचित लगता है : सभ्यता में उभरती चेतना को व्यक्ति से ऊर्ध्व रखना ही समीचीन ठहरता है, उससे अध: रखना नहीं - वह समष्टि-चेतना है, और समष्टि के बिना व्यक्ति का होना संभव नहीं। यों व्यक्ति-चेतना को — आत्मचेतना को — हम सभ्यता की चेतना से बिल्कुल अलग, नितान्त विजातीय भी नहीं कह सकते, क्योंकि साफ़ ही व्यक्ति समष्टि और उसकी संस्कृति-सभ्यता के भीतर ही व्यक्ति बनता है - उसकी आत्मचेतना संस्कृति-सभ्यता को ऊह्य रखती है। प्रश्न यही है कि हम सभ्यता की चेतना का लक्षण क्या करें? इस प्रश्न में यहां जाने की ज़रूरत नहीं। हम किसी संस्कृति-सभ्यता के साध्यों की, आदर्शों की, उसकी अपनी भंगी की, यहां तक कि उसकी अपनी विशेष दृष्टि की भी बात करते ही हैं — इनके बिना सभ्यता की बात ही थोथी, अर्थ-दरिद्र लगती है; 'सभ्यता' शब्द के हमारे प्रयोग में ही ये धारणायें समाहित हैं। पर हम इतना मान लें तो फिर सभ्यता में व्यक्तित्व मानने के आसपास पहुँच ही जाते हैं। हां, फिर भी, इस 'व्यक्तित्व' को व्यक्ति-ऊर्ध्व रखना तो उचित है ही। सभ्यता के स्वरूप की — उसके किसी भी 'अपनेपन' की, अलग 'पहचान' की हम बात करें तो व्यक्ति की चेतना को समाविष्ट करती किसी व्यक्ति-ऊर्ध्व चेतना की व्यंजना बात में आती ही है, चाहे इस

ऊर्ध्व चेतना को आँकने-समझने में हमारा विमर्श लक्षण करने के अलग रास्ते ले। यहां हम ऐसे विमर्श का कोई रास्ता नहीं लेंगे। पर हम सभ्यता के *व्यक्तित्व* को, या पुराने शब्दों में उसके *आत्म* को मानते हुए आगे बढ़ेंगे। क्योंकि, जैसा कह आया हूं, सभ्यता की धारणा में ही यह मान्यता - या पूर्वग्रह कहिये — अंतर्निविष्ट है।

सभ्यता की जैसी समझ की ऊपर बात की है, सभ्यता की ऐसी समझ योरोप में १८वीं-१९वीं सदी में उपजी और पनपी। इसमें व्यक्ति के ह्रास-विकास की काल-यात्रा की तरह ही सभ्यता को एक काल-यात्रा —और यों इतिहास के रूप में देखा गया। मनुष्य के विचार-विमर्श, कर्म-संकल्प के आत्मचेतन, आत्मालोचन-युक्त क्षेत्रों को समोती हुई इस धारणा में दृष्टि का एक अपूर्व विस्फार, सूझ और व्यापकता स्पष्ट है। प्रकट ही, यह मनुष्य के विगत-बोध को ही एक नया गहरा और व्यापक दिगन्त देती है — उसे आत्मबोध का धरातल देती है।

इस दृष्टि में यह भी व्यंजित ही नहीं, स्फुट भाव से निहित है कि व्यक्ति ही की तरह सभ्यता एक नहीं अनेक है। क्योंकि सभ्यता की बात ही किसी एक सभ्यता की नहीं, सभ्यताओं की है। जैसे कि व्यक्ति की बात एक व्यक्ति की नहीं, व्यक्तियों की होती है — व्यक्ति-विशेष अनेक में ही एक हो सकता है। व्यक्ति को समझने के लिये व्यक्ति-भेद को समझना अनिवार्य है। यही बात सभ्यताओं पर भी पूरी उतरती है। व्यक्तियों की तरह ही सभ्यता की बात सभ्यता के अनैक्य को, सभ्यता-भेद को ऊह्य रखती है।

अकसर, व्यक्तियों ही की तरह इनके जन्म और मृत्यु की बात भी की ही जाती है। पर व्यक्ति की तरह सभ्यता का कोई जीव-शरीर नहीं होता, इसलिये जीने-मरने की बात लक्षणा में ही होनी चाहिये, हालांकि प्रयोग अकसर अभिधा का रंग लेता दिख जाता है। सभ्यताएं बनती-मिटती हैं और विगत के साक्ष्यों को काल के विस्तार में रखते हुए देखें तो कई सभ्यताओं को हम बनते-मिटते देखते हैं। उनके परस्पर प्रभावों को, संघर्षों, युद्धों को देखते हैं। जिसे हम मनुष्य की काल-यात्रा कह सकते हैं उसे ही हम सभ्यता के अनैक्य में पलता हुआ देखते हैं। इस अनैक्य के एक यात्री *मनुष्य* की छवि हम इस अनैक्य में ही उभरते देखते हैं। मनुष्यता का एक सामान्य रूप भी यहां दिखता ही है, जिसके बिना भी सभ्यता की बात बनती नहीं लगती। हम सभ्यता-भेद से उठ कर मनुष्य-सामान्य की काल-यात्रा की बात कर सकते हैं — मनुष्य को ही किसी एक विराट् संभावना या गन्तव्य की ओर बढ़ता देख सकते हैं। पर संभावना के अनैक्य से इनकार करने का कारण नहीं दिखता। संभावना तो पलती ही अनैक्य में है। आज के इतिहास-विचार में सभ्यता-भेद के बोध के साथ मनुष्य-मात्र की *एक* , अभिन्न काल-यात्रा का प्रखर बोध भी उबरा है। इतिहास-दृष्टि की यह दिशा सभ्यता की धारणा के साथ ही उभरी है, और एक अर्थ में स्वाभाविक भी है —

विचार में मनुष्य की बात मनुष्यता की बात पर जा पहुँचती ही है। पर कोई पूछे कि मनुष्यता कहां जा रही है? सभ्यता किस एक-मार्ग पर बढ़ रही है? तो इतिहास इसका उत्तर नहीं दे सकता। यह इतिहास का या इतिहास-निर्भर दृष्टि का प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह क्या होना चाहिये का प्रश्न है, क्या हो चुका का नहीं। और क्या हो चुका का भी कोई इतिहास-चित्र स्वरूपेण अनेकांत होता है। पर पश्चिम के जिस इतिहास-बोध की हम बात कर रहे हैं, उसमें पश्चिम की यात्रा को ही मनुष्य की यात्रा के रूप में देखने की प्रवणता प्रबल है। यही नहीं, वह यात्रा जिधर जा रही है, उसे सभ्यता मात्र का गन्तव्य समझने का बोध प्रबल होने के साथ दंभपूर्ण और उद्धत-उद्दण्ड भी है। पर सच पूछें तो सभ्यता जैसी धारणा में किसी सामान्य की बात की जाये तो वह विशेष-गर्भ होगा, और बहु-संभावना-मय। पर पश्चिम की इतिहास-दृष्टि अपनी सभ्यता-विशेष को ही सभ्यता-सामान्य के रूप में देखना-आँकना चाहती है। यह सभ्यता-विशेष के औरों पर हावी हो जाने का एक क्रूर, छद्म-युक्ति-भरा बहाना ही है।

पर एक बात यहां ध्यान में रखने की है। जिस व्यापक मनुष्य के विचार, दर्शन, विज्ञान, कला... पर भी मनन करती आज की इतिहास-दृष्टि सहज ही सभ्यताओं के अनैक्य-बोध में ही बसी है – किसी एक सभ्यता को सभ्यता का तत्त्व या आदर्श कह देना उस दृष्टि का विकार ही समझना चाहिये। सभ्यता (और मनुष्य) की *एक*-यात्रा की बात यहां दृष्टि में अंतर्निविष्ट अनैक्य की उपेक्षा कर के ही बनती है। पर आज के पश्चिम की इतिहास-दृष्टि का विकार गहरा है। वह मनुष्य की यात्रा को एक-यात्रा के रूप में भी देखती है, और अपनी ही सभ्यता में उस यात्रा का सार, उसका मनुष्य-मात्र-को-आगे-ले-जाता भाव भी देखती है। योरोप में इतिहास की नई व्यापक दृष्टि के साथ ही अपनी ही सभ्यता में सभ्यता का सार देखने का भाव भी युगपद् जागा। यहां तक कि योरोप (पश्चिम) इतिहास के बहाने अपने आप को सभ्यता का हरावल ही नहीं, उसका गन्तव्य भी समझने लगा – और अब भी समझता है। स्पष्ट ही, इसके पीछे प्रेरणा युक्ति-बुद्धि की या किसी तटस्थ दृष्टि की नहीं है, प्रेरणा सत्ता और शक्ति की है : अग्रगण्यता का दावा विश्व-विजय के दंभ का आस्फालन है – उसे दृष्टि नहीं कहा जा सकता। अचंभा यहां इस बात का ज़्यादा है कि पश्चिम की इतिहास-दृष्टि जहां एक ओर अपनी विजय में अपनी सभ्यता की अग्रगण्यता देखती है वहीं (बड़े विसंगत, विपरीत भाव के साथ) सभ्यता के सार को सत्ता-शक्ति से नहीं रीज़न (बुद्धि-प्रज्ञा) से तोलती है। पुराण-दृष्टि भी मनुष्य-मात्र पर व्यापक है। वह मनुष्य को धर्म से (कर्म-चेतना के औचित्य-बोध से) परखती है। पर वह इतिहास-दृष्टि की तरह मनुष्य की काल-यात्रा को सभ्यता जैसे किसी अनैक्य में नहीं बाँटती – वहां, मनुष्य की काल-यात्रा - या यात्रा-चक्र कहिये – स्वरूपेण ही *एक* है – अनैक्य की वहां

बात ही नहीं उठती। पर जहां विचार का आधार सभ्यता जैसी धारणा हो वहां अनैक्य-बोध स्वाभाविक ही नहीं, आधारगत है। वहां यात्रा के ऐक्य की धारणा अनेक के किसी एक को — और वह भी अपने आप को -प्राधान्य दे कर बनाई गई हो तो धोखा है — पुराणों के विपरीत इधर पश्चिम मे उभरी इतिहास-दृष्टि आरंभ से संस्कृति-सभ्यता की बात करती है, वह मनुष्य के सामान्य-भाव को ही संस्कृति-सभ्यताओं के विशेष में विभाजित देखती हुई बढ़ती है। सोचने की बात यहां यह है कि विचार यह रास्ता ले तो ऐक्य-दर्शन अनेक को रखते हुए, उसे समो कर ही स्वाभाविक और उचित दिखता है — अनेक में से किसी एक को सिंहासन पर बिठा कर नहीं, जैसा कि यह दृष्टि वास्तव में करती है। अनेक में ऐक्य का भाव यहां 'रूप रूप में सर्व' का होना चाहिये — जैसे एक ही देवता के भिन्न और संपूर्ण अवतार (रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव की तरह), यों नहीं कि किसी एक रूप को सर्व का नेता और प्रतिनिधि मान कर औरों को 'पिछड़ी', तीसरी दुनिया में फेंक दिया जाये। यों देखनें में बात सभ्यता की नहीं, सत्ता और अधिकार की ही होती है - चाहे (हमारे जैसे) दूसरे भी विजयी को अधिकारी मान भी लें। सभ्यता के अनेक को अगर आधारगत मान कर चलें तो अनेक में किसी एक को सर्वे-सर्वा मान लेने का रास्ता दृष्टि को अनैक्य से उबार नहीं देता, ऐक्य में एक जबरदस्ती या फ़तवे की बात ही ले आता है। अनेकत्व में एकत्व की मूलगत और सार्थक बात तभी बनती दिखती है जब अनेक का एक एक अपने आप में सार्वजनीन हो। जहां सामान्य हर विशेष में रूप ले। जैसे कला में लेता है। या मनुष्य-व्यक्ति में। सभ्यता के 'व्यक्तित्व ' की बात व्यक्ति के व्यक्तित्व की बात की तरह ही अनैक्य को आधार रख कर ही बनती है। *एक ही* व्यक्ति की तरह *एक ही* सभ्यता का कोई अर्थ ही नहीं। व्यक्तित्व में सामान्यता ही नहीं, साध्यता भी होती है। व्यक्तित्व सिद्ध-प्रदत्त पदार्थ नहीं होता। उसमें एक आदर्शमयता होती है जो साधी जाने की अपेक्षा रखती है। सभ्यता भी साध्य होती है, उसके भी मर्म में आदर्शमयता होती है। पर साध्यता चेतना के स्वातन्त्र्य को ऊह्य (पूर्वगृहीत) रखती है, और स्वातन्त्र्य सम्भावना के अनैक्य को। व्यक्ति या सभ्यता के भेद की यही नींव है। सम्भावना के भेद का व्यक्ति में ही नहीं सभ्यता में भी होना यही आपादित करता है कि बात यहां व्यक्ति-चेतना की नहीं, चेतना की अपनी है — (यहां हम चाहें तो चेतना के इस स्वगत स्वभाव को व्यक्ति-चेतना से अलग और ऊपर करने के लिये इसे चैतन्य या चित् कह दे सकते हैं, पर बात का तत्त्व वहीं रहता है)।

पर मैं चैतन्य या चित् के विमर्श में यहां नहीं जाना चाहता। बात को छेड़ा इसलिये है कि यह दिख सके कि सभ्यताओं के बहुत्व को आगन्तुक या यादृच्छिक समझना ठीक नहीं। ऐसा नहीं है कि वह बहुत्व कभी एक में भी स्मट सकता है। पर आज यह बोध गहरा और आम है कि आज हम किसी एक और विश्व-व्यापक

सभ्यता की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं; सभ्यता का बहुत्व एक आगन्तुक घटना थी — एक गौण कारण दूरियों को कह सकते हैं। पर प्रधान कारण यह था कि पश्चिम का संपूर्ण उदय नहीं हुआ था, वहां सार्वभौम 'आधुनिकता' नहीं आई थी। पर अब एक के फैलाव में सारे भेद समा जा सकते हैं — और ऐसा होता दिख भी रहा ही है। पर ऐसे देखना मनुष्य को केवल ऊपर से देखना है। यों ही देखें तो मनुष्यों में व्यक्तित्व-भेद की महिमा भी घट कर संस्कार-भेद मात्र रह जाती है। पर फिर सभ्यता को चेतना से लक्षित करने का भी कोई अर्थ नहीं रहता, जैसा कि सभ्यता की धारणा में आरंभ से रहा है। यह सच है कि सभ्यता की धारणा के साथ जो इतिहास-बोध जुड़ा हुआ है वह सभ्यता को 'वस्तु-तन्त्र' साक्ष्यों के माध्यम से देखता हुआ एक तरह से मनुष्य को उसके बाह्य व्यवहार में ही देखता कहा जा सकता है। पर जब बात घटना या घटनाओं मात्र में सीमित नहीं रहे, इतिहास केवल राज्य और सत्ता, सत्ता की उथल-पुथल से उठ कर हम ज्ञान, भाव कर्म, और इनके भिन्न रूपों-आदर्शों की बात करे तो बात और हो जाती है। बात उस सामान्य चेतना की हो जाती है जो मनुष्य की विभिन्न व्यवहार-मार्गों में, संस्कृति-सभ्यताओं में स्वरूप से ही निभिन्न रूप लेती है। सभ्यता की धारणा के मूल में ही यही बात है। तभी आज जब सब सभ्यताओं के एक हो जाने की बात उठती है तो बात को 'इतिहास का अंत', यह नाम दे दिया जाता है, आशय यही बनता है कि अब तक सभ्यताओं में रूप और आदर्श का अंतरंग भेद था, अब नहीं रहा। पश्चिम की सभ्यता *एक-सभ्यता* हो गई है। पर इस 'अंत' के विपरीत 'सभ्यताओं के संघर्ष' की बात भी आज तूल पकड़ रही है, उसका इंगित और है। वह गहरे प्रवृत्ति-भेद और आदर्श-भेद का संकेत है। उसका रूप हिंस्र है तो एक कारण यह भी है पश्चिम की एक-सभ्यता की बात भी कतई अहिंस्र नहीं है।

यहां ऊपर जो कुछ कहा है, उसे आगे की पूर्वपीठिका बनाने के ध्यान से कहा है - हम भारत में आज जिस अर्थ में इतिहास को अपनी पहचान के रूप में ले रहे हैं, उस बोध की ही ऐतिहासिक-वैचारिक भूमिका समझिये। भारत में ही नहीं, सभी संस्कृति-सभ्यताओं में, मनुष्य को समझने की, उसके विचित्र साध्य-गर्भ-सिद्ध, लोकोत्तर-गर्भ-लौकिक रूप को आँकने की चेष्टा चिरंतन है। यह प्रवृत्ति आत्मचेतना की सहचारी है। सभ्यता में यह प्रवृत्ति और भी आत्मचेतन हो जाती है — और भी प्रत्यङ्मुख होने का मोड़ लेती दिखती है : विमर्श अब हर क्षेत्र में आत्मविमर्श करने लगता है। मनुष्य स्फुटतर आत्मबोध, प्रमाण-बोध के साथ अपने को जानने-साधने की ओर बढ़ने लगता है। मनुष्य क्या है, मनुष्य की यह चिरंतन जिज्ञासा अब परोक्ष-प्रच्छन्न, उत्प्रेक्षामय प्रातिभ-बोध में ही नहीं, विमर्श की युक्तिगर्भ पारदर्शिता में भी

जाग उठती है। पर, मनुष्य क्या है, इस प्रश्न का उठना ही मनुष्य को स्वतन्त्र, साध्य और यों सम्भावनामय ठहराता है। हां, इस जिज्ञासा के सभी गंभीर संधानों में एक विश्वजनीन सामान्य-भाव होता है, पर अंतरिक्ष अलग खुलते हैं। सभ्यताओं के भेद में संभावना-भेद विराट् रूप लेता देखा जा सकता है। मानो अर्थमय सामान्य-चेतना व्यक्ति-समष्टियों के माध्यम से अपनी भिन्न सम्भावनाओं की थाह ले रही हो। हां, ये सभी संभावनायें अपने मर्म में मानव-सामान्य चेतना की सम्भावना के ही अलग अलग रूपों में देखी-भाँपी जा सकती हैं। तभी वह इतिहास-दृष्टि संभव होती है जो भिन्न सभ्यताओं को उनके भेद के साथ आँकती है - या आँकने की ओर बढ़ती है।

मनुष्य में आत्मचेतन स्मृति के साथ विगत का एक सार्थक और आत्म-संबद्ध बोध भी सामान्य है : यह बोध सामान्य है कि उसका (मनुष्य का) 'होना' ही (उसका भाव या स्वरूप ही) विगत, वर्तमान और अनागत को काल की एक संहति में समेटता चलता है। यह संहति भविष्य-उन्मुख होती है। क्योंकि मनुष्य का भाव ही भाव्य-उन्मुख है, विगत इस उन्मुखता का ही अंग होता है। हमारा भाव्य काल में नहीं होता, साध्य ही रहता है — काल में तो हम अपने आप को यात्री ही पाते हैं। इसलिये यह प्रतिज्ञा कि 'मनुष्य की समझ उसका इतिहास है', यह मनुष्य की समझ की एक दिशा, एक (क्षीण) पक्ष ही हो सकती है, मनुष्य की समझ नहीं, उस को समझने का आवश्यक अंग भी नहीं। और विगत को कैसे समझा जाये, इसका भी कोई एक अनिवार्य मार्ग नहीं है। पौराणिक मनीषा मनुष्य को विगत में ही नहीं, अनागत भविष्य में भी रखना चाहती है (तभी उस के चित्र को 'इतिहास' नहीं कहा जा सकता) और तभी वह विगत को जिस काल में रखती है — वह गणित की तिथियों का काल नहीं है; घटनायें भी वहां 'साक्ष्य-निर्णीत' घटनायें नहीं हैं - सच पूछें तो विगत वहां काल-गत है ही नहीं, काल से बाहर है। चेष्टा वहां मनुष्य के चिरंतन सिद्ध-साध्य स्वरूप को, उसके भाव्यगर्भ-भाव को पकड़ने की है, जहां उसका होना उसी अर्थ में काल-निष्ठ होता है जिस अर्थ में संगीत की कोई कृति काल-निष्ठ होती है — कृति काल के परे होती हुई भी काल को अपना अंग बनाती है। कथा-उपन्यास में भी काल यही रूप लेता है — और वहां तो यह बात और भी स्फुट होती है क्योंकि वहां हम भूत-भविष्य-वर्तमान में कथा की गति के साथ आगे-पीछे यथा-छंद आते-जाते भी रहते हैं।

आज जिसे हम इतिहास कहते हैं, वह विगत को आँकने की एक विशेष पद्धति की मांग करता है, जैसी मांग कचहरी में विगत के निर्धारण में की जाती है। अब ऐसे निर्धारण के साथ 'मनुष्य की समझ' का कोई सीधा अंतरंग संबंध बनता नहीं दिखता। संबंध दृष्टि के जिस उदात्त-गंभीर प्रसार के कारण बनता है वह घटना से ऊपर उठा होता है — जैसा हम कह ही आये हैं। फिर, दृष्टि का प्रसार मनुष्य के जिन पक्षों के कारण बनता है : विचार, दर्शन, कला, विज्ञान... इन्हें घटनाओं की श्रेणी में

रखा ही नहीं जा सकता। ये संगीत या उपन्यास की तरह काल में घटित होते हैं, पर स्वरूप से काल-बाहर हैं। आज के इतिहास की तिथि-क्रम-प्रधान दृष्टि इनके घटित होने को और इनके कालक्रम में परिवर्तन को ऐसा महत्त्व देती है मानों इनके स्वरूप को ही कालगत कर देना चाहती हो। वह काल-घटित घटनाओं या परिस्थितियों-अवस्थाओं से इनका अंतरंग सम्बन्ध भी देखना चाहती है। पर यह अपने आप में एक विचार ही है, विचार का - या कला, दर्शन, विज्ञान... का स्वरूप नहीं। स्वरूप से इन्हें अर्थ के स्वतन्त्र क्षेत्रों के रूप में समझा जा सकता है — परिस्थति-मुक्त।

भारत में हम इन्हें इसी तरह समझते आये हैं। हम अपने को इतिहास से समझते ही नहीं रहे हैं। मनुष्य क्या है, यह जिज्ञासा हम में भी विमर्श की उसी गहराई से उठी जैसी कहीं और, पर इस संधान में हमने इतिहास को माध्यम नहीं बनाया। हममें अपनी पहचान की भी गहरी प्रतीति रही है, पर उसके लिये हमने अपना आज-सा इतिहास-चित्र बनाने की दिशा नहीं ली।

पर आज पश्चिम के प्रभाव से ली है। इस दिशा में अपनी एक अर्थवत्ता भी है। आज हम भी अपनी सभ्यता का साक्ष्य-गर्भ इतिहास आँकते हैं, और उसे अपनी पहचान भी समझते हैं। पर हमारे अपने इतिहास-चित्र पर पश्चिम की गहरी छाया है। पश्चिम से आई हमारी आज की इतिहास-दृष्टि योरोप के आँके योरोप के इतिहास को ही इतिहास रचने का आदर्श और साँचा मानती रही है। उसमें वह स्वतन्त्र और गहरा आत्मावलोकन नहीं है जिसकी अपेक्षा स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, एक और जड़ की बात ने हमें अपनी निर्बंध दृष्टि से वंचित रखा है। योरोप यह मानता है कि मनुष्य की काल-यात्रा आज जिस पड़ाव पर है — जिस 'युग' में है वहां योरोप ही उसे लाया है (या योरोप न कह कर पश्चिम कहिये, क्योंकि यह सभ्यता इसी नाम से अपने को पुकारती है; पश्चिम योरोप से कहीं बड़ा है और अमरीका ही नहीं, ऑस्ट्रेलिया तक फैला है)। कहना न होगा, इस 'युग' का अपना भी इतिहास है, इसके अंतर्गत उप-युगों की बात की जाती है (जैसे पुनर्जागरण, प्रतिबोध - एनलाइटेनमेण्ट — और आधुनिक), पर एक समग्र के रूप में इसे 'आधुनिक' का नाम दिया जाता है, और पुनर्जागरण के साथ इस 'आधुनिक' का आरंभ माना जाता है; आज जिसे 'उत्तर-आधुनिक' कहते हैं वह भी 'आधुनिक' के क्रम में है, उसका एक उपयुग ही है। कुछ लोग आज 'उत्तर-उत्तर आधुनिक' की भी बात करते हैं, पर ऐसा कोई उपयुग है तो उसे भी बृहत्तर 'आधुनिक' से बाहर रखने का कोई कारण नहीं। योरोप का यह दावा कि उसका 'आधुनिक' विश्वव्यापक है, एक गहरे अर्थ में ग़लत भी नहीं — हम भी जहां अपना 'आधुनिक, देखते हैं, उसे योरोप-जात मानते ही हैं।

पर साफ़ ही 'आधुनिक' किसी युग विशेष का नाम हो तो नाम वैसा ही लाक्षणिक हो सकता है, जैसे कि किसी ब्राह्मण का नाम 'ब्राह्मण' हो — 'आधुनिक'

और 'ब्राह्मण' दोनों ही ऐसे सामान्य वाचक हैं जो भिन्न देशकाल में कई विशेषों पर व्यापक हैं। आधुनिकता एक सापेक्ष संज्ञा है जो कई भिन्न गुण-धर्मों से परिभाषित की जा सकती है, और जिसे इतिहास में पिछले की अपेक्षा से किसी भी अगले काल में घटे नये, विलक्षण परिवर्तन के लिये चुना जा सकता है। यों 'आधुनिक' सापेक्ष ही नहीं कई परस्पर-भिन्न सम्भावनाओं का वाचक है। पर पश्चिम की इतिहास-दृष्टि के लिये योरोप में लगभग १५वीं-१६वीं सदी और उसके बाद आये परिवर्तन ऐसे 'आधुनिक' हैं जो उसकी अपनी सभ्यता के लिये ही नहीं, सभ्यता-मात्र, मनुष्य-मात्र के लिये नये हैं, नये ही नहीं वरेण्य हैं। उन्हें आज, मनुष्य की काल-यात्रा के इस पड़ाव पर, सबको ग्रहण करना होगा, अगर बचे रहना है और सभ्यता के अगले पड़ाव पर जाना है! बात तकनीक मात्र की नहीं है, ज्ञान, कर्म, भाव, सभी क्षेत्रों पर लागू होती है। बात (हममें) लगभग सर्व-स्वीकृत सी ही प्रकट भी होती है आज। हालांकि, साफ़ ही, इससे यह युक्त या सत्य (सार्थक) नहीं हो जाती।

यहां सोचने की कुछ बातें हैं। एक तो यह कि इसमें सभ्यता के अनैक्य का ही निषेध नहीं है, हमारे (अयोरोपीय सभ्यता के) किसी अपनेपन के मूल पर ही कुठाराघात है। साथ ही, उसे उदार दृष्टि का भी निषेध है जो सभ्यता को केवल साम्राज्य, युद्ध और राज्य-परिवर्तन की कथा के रूप में न देख कर विचार, दर्शन, कला... इनको भी इतिवृत्त का अंतरंग बनाना चाहती है। यह चेष्टा हर सभ्यता की अपनी विशेष गहराई में उतरने की ही हो सकती है। सहज ही यह सम्भावना के अनैक्य को पालती है, क्योंकि जिन क्षेत्रों को विषय बनाती है वे स्वभाव से संभावना का अनैक्य पालते हैं। और इन क्षेत्रों को अपने चित्र में समोने के कारण ही इस इतिहास-दृष्टि को चेतना का इतिहास कहा जा सकता है।

यों देखें तो स्पष्ट ही सार्वभौम आधुनिकता की धारणा में एक गहरा अंतर्विरोध ही नहीं, एक घोर दोहरापन उभरता है। यह ऐसी आधुनिकता है जो सबके लिये उद्दिष्ट और साध्य ही नहीं है, इसका जबरन आरोप भी उचित है – इतिहास द्वारा आदिष्ट है! इतिहास की जो व्यापक और स्वरूपत: उदार दृष्टि विचार, कला आदि को अपने चित्र का विषय बनाना चाहती है वह 'आधुनिक युग' पर आ कर संकीर्ण ही नहीं निर्मम हो जाती है - योरोप (या पश्चिम) के अपने 'आधुनिक' को सार्वभौम मानने ही नहीं, उसे थोपने भी लगती है! इसीलिये योरोप समझता है कि वह अगर (चाहे नृशंस आधिपत्य के साथ ही सही) इसे फैलाता रहा है तो वह मनुष्य विशेष के ही नहीं मनुष्यता के इतिहास को ही आगे बढ़ा रहा है। और ऐसा समझते हुए पश्चिम की मनुष्य-को-आँकती इतिहास-दृष्टि अपने विगत को भी अपनी सार्वभौम आधुनिकता की ही अनन्य भूमिका के रूप में आँकती दिखती है। उसकी दृष्टि में अगर 'आधुनिक' चेतना का उदय योरोप में ही संभव हुआ तो इसके ऐतिहासिक कारण हैं।

इस चेतना के बीज का वपन ही योरोप की धरती में हुआ था – ग्रीस में; जहां उस बुद्धि का पहला क्रान्तिकारी स्फोट हुआ, जिसने बाद में पल्लवित हो कर योरोप को वह चेतना दी जो मनुष्य-मात्र के लिये आधुनिक और वरेण्य है। 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग यहां जानबूझ कर कर रहा हूं। योरोप के इतिहासकार 'रीज़न' शब्द का प्रयोग करते हैं, पर रीज़न को वह जिस अर्थ में लेते हैं – 'आस्था-विश्वास या कोरी श्रद्धा और मिथ्या-कल्पना (मिथक) से हट कर युक्ति-तर्क, ऊहापोह पर भरोसा'- यह ध्वनि 'बुद्धि' में भी है। हमने ऊपर देखा कि संस्कृति से हट कर सभ्यता में आना ही जिस व्यवस्थित विचार को, शास्त्र-चिन्तन को – दूसरे शब्दों में, विमर्श-चेतना के आत्मविमर्श को - विकास-वृद्धि देता है, या यो कहिये कि आत्मचेतना को और स्फुट भाव से प्रत्यङ्मुख करता है - वह बुद्धि या रीज़न की ही बात है, और वह योरोप को ही नहीं सभ्यता-मात्र को परिभाषित करती है; उसे केवल ग्रीस और बाद के योरोप तक सीमित करना विडंबना है। एक और दोहरी विडम्बना यहां यह भी है कि ग्रीस-चिन्तन के आधार पर योरोप मनुष्य को ही रीज़न से परिभाषित भी करता है – पर साथ ही अपने को ही रीज़न का वर-पुत्र मानता है; क्योंकि अभी सत्ता की विजय-पताका उसके हाथ में है! पर सोचिये, विजय और रीज़न का क्या युक्तिगत (रैशनल) संबंध हो सकता है? स्पष्ट ही, ग्रीस में हुए बुद्धि-स्फोट का सिद्धान्त अहंमन्यता को उचित ठहराता एक प्रज्ञावाद है – बुद्धिहीनता को, नृशंस स्वार्थ को ढँकता बुद्धि का मुखौटा।

पर *हमारी* विडम्बना यह है कि हम इस प्रज्ञावाद के शिकार हैं। ऐसा नहीं है कि हमने योरोप से इतिहास-दृष्टि की प्रेरणा ले कर अपनी ओर अपनी दृष्टि से देखा ही नहीं, पर अब भी हमारी दृष्टि ठीक आत्मस्थ नहीं है। हमारी इतिहास-रचना का साँचा, उसके अभिनिवेश, उसकी दिशायें, इन पर पश्चिम की गहरी छाया है। जो बढ़ती जाती है। हमारी अपनी दृष्टि भी हमारी (राजनैतिक) स्वतन्त्रता से पहले अधिक जागरूक थी। अब पश्चिम की और गहराती छाया में धुँधलाने लगी है। हमारे संस्कार, हमारी शिक्षा, हमारे संस्थान, हमारी प्रवृत्ति, सब में (पश्चिमी) 'आधुनिकता' का लोहा जड़ कर चुका है। अंग्रेज़ के आने के पहले का हमारा 'पूर्व-आधुनिक' इतिहास हमारे लिये रूढ़ि (ट्रैडिशन) का पर्याय हो चला है – वहां चेतना के किसी बुद्धि-स्फोट या किसी भी सार्थक उन्मेष की ही बात मानो वृथा है। हमारे यहां भी गहरा विचार था, मनुष्य-विषयक विमर्श था, यह हम मानते हैं, पर न उसे विशेष जानते हैं, न उसे विशेष प्रासंगिक समझते हैं। तभी उसमें पैठने के लिये इस भाव से नहीं मुड़ते कि उससे सार्थक, सजीव चिन्तन के साथ जुड़ सकें।

मनुष्य के सभी क्षेत्रों में : राज्य, समाज, धर्म, धर्मनीति, कानून... सबमें हमारे यहां सार्थक चिन्तन रहा है! कला के क्षेत्रों में भी रहा है – दर्शन की तो बात ही क्या

है! अगर हम अपनी सभ्यता का वैसा अंतरंग, चेतना-प्रधान इतिहास रचना चाहते हैं जैसा योरोप का आदर्श रहा है, तो हमें इन क्षेत्रों के विचार में, निभाव की परंपराओं में पैठना होगा, उन्हें विस्तार से, उनके भीतर उतर कर परखना होगा; उनकी संस्थाओं, उनमें घटते परिवर्तन की ओर स्वतन्त्र दृष्टि से ध्यान देना होगा, और उसे अपनी सभ्यता के समग्र में पिरोना होगा। पर हमारा ध्यान किसी भी व्यापकता या गहराई के साथ उधर गया ही नहीं है।

पर मैं यहां बात की व्यापकता को नहीं बढ़ा कर एक दृष्टान्त लेना चाहता हूं, जिस से बात को एक साक्षात् सा आधार दे सकूं। दृष्टान्त नृत्त के इतिहास से लेना चाहता हूं।

हमारी सभ्यता-समग्र के परिप्रेक्ष्य में कला के इतिहास को लीजिये। कहना न होगा, हम अपना इतिहास-चित्र आँकते हैं तो हमारा ध्यान वास्तु, मूर्ति और चित्र, इन कलाओं पर ही केन्द्रित रहता है। इसका क्या कारण है? माना कि कारण ऐसे मामलों में जटिल होते हैं, पर एक कारण हमारा अपने आप को योरोप के दर्पण में देखना है — वहां के अपने इतिहास-चित्र में, और उसके पीछे जागती दृष्टि में।

योरोप वास्तु, मूर्ति, चित्र, इन कलाओं को अपनी सभ्यता के समग्र चित्र में विशेष महत्त्व देता है - यह बात प्रकट है। इसका एक आधारगत कारण है। योरोप की इन कलाओं के बीज ग्रीस में देखे जा सकते हैं। और ग्रीस में — जैसा हम कह आये हैं - योरोप अपनी सभ्यता का ही जागरूक, चेतन, बीज पाता है। फिर, योरोप की इतिहास-दृष्टि में अपने इतिहास के उस काल का बड़ा महत्त्व है जिसे वह (१५वीं-१६वीं सदी के) पुनर्जागरण का काल या युग कहता है : इस काल में योरोप ने अपना सोया (और खोया) हुआ ग्रीक आपा फिर से पा लिया था, और उसी धरती पर आधुनिकता का नया स्फोट उजागर हुआ, जो मनुष्य-मात्र के लिये एक नव-युग-प्रवर्तन का आरंभ था।

योरोप की इतिहास-दृष्टि में योरोप का पुनर्जागरण अलौकिक ईसाई मज़हब की अलौकिकता-प्रधान श्रद्धा-आस्थामयी चेतना से हट कर ग्रीस के युक्तिगर्भ, इहलोकनिष्ठ रीज़न की ओर फिर से उन्मुख चेतना का उदय था। इस अभिनव चेतना के मूल में यह इतिहास-दृष्टि ग्रीक भाषा और वाङ्मय की पुन: उपलब्धि तो देखती ही है, पर इसी के साथ ग्रीस-प्रभावित वास्तु, मूर्ति जैसी प्लास्टिक या ठोस द्रव्य-निर्मित कलाओं की प्रेरणा को भी कम महत्त्व की नहीं मानती। इहलौकिकता की व्यंजना इन्हीं में अधिक प्रकट मानती है। योरोप की जागरण-पूर्व की चित्र, मूर्ति कलाओं में इसाई पारलौकिक दृष्टि की व्यंजना प्रधान थी - मनुष्य और जगत् का चित्रण यथादृश्य रूपों को एक चित्रधर्मी भंगी के साथ प्रतीक रूप देने की ओर मुड़ा रहता

था। पर अब उसमें प्राचीन ग्रीस और ग्रीस-प्रभावित रोम की चित्र, मूर्ति कला की प्रकट प्रेरणा जाग उठती है। यह कला अपने रूपों में, अपनी संवेदना में लोकधर्म का पूरा आश्रय लेती थी। इस कला के प्राचीन नमूने उपलब्ध थे। अब ये नई कला के लिये निदर्श बनने लगे। पारंपरिक ईसाई कला का 'अदृष्ट-अलौकिक' भंगी और प्रतीक मुखी चित्रण दृष्ट-लौकिकता के रूपों और तदनुरूप संवेदना में बसने लगा। एक नई परंपरा जागी। चित्रों के विषय अब भी प्रधान रूप से ईसाई ही थे, पर चित्रण-भंगी लोकधर्मी होने लगी। पुनर्जागरण की इस अदृष्ट-अलौकिक-प्रभाव-से—हटती प्रवृत्ति को मानवधर्मी भी कहा जाता है, और इस प्रवृत्ति में उर्वर 'आधुनिकता' के बीज देखे जाते हैं।

यह लिखते हुए यहां एक प्रश्न मेरे मन में उठ रहा है, जिसे छेड़ता हुआ आगे बढ़ना चाहता हूं। स्पष्ट ही, ऊपर की दृष्टि में श्रद्धा और रीज़न के विरोध को अलौकिक और लौकिक या अदृष्ट और दृष्ट के विरोध के रूप में देखा गया है। इसके पीछे एक पूर्वाग्रह बैठा दिखता है : यह कि श्रद्धा का आधार अलौकिक होता है जब कि रीज़न का लौकिक। पर ऐसा मानने के पीछे क्या युक्ति है? क्या रीज़न — इसे युक्ति-बुद्धि कहिये या इस से भी बढ़ कर युक्ति-*प्रज्ञा* कहिये — स्वरूप से ही लोकमुखी होता है, अतिलोकमुखी नहीं?

योरोप का इतिहास-रचती दृष्टि इसे स्वरूप से ही दृष्ट-धर्मी या लोक-मुखी मान कर चलती है; और

इसके विपरीत श्रद्धा या फ़ेथ को अदृष्ट-धर्मी या अलौकिकता की ओर उन्मुख। पर युक्ति-बुद्धि में ऐसी एकपक्षता या दृष्टि-भेद कहां कि वह एक को युक्त माने और दूसरे को अयुक्त? कहा जा सकता है कि रीज़न विमर्श करता है और विमर्श का आद्य आधार इन्द्रिय-बोध को बनाता है जो कि साक्षात् दृष्ट-बोध है, और प्रकट ही लोक-मुखी है। पर क्या अलौकिक बोध साक्षात् नहीं होता? न हो तो होगा ही नहीं! युक्ति दी जा सकती है कि वह साक्षात् सही, पर मिथ्या या कल्पना होता है। पर यह सोचिये कि रीज़न की विमर्श परंपरा में — दर्शन में — इन्द्रिय-बोध को अभ्रान्त सत्य माना कहां जाता है? इन्द्रिय में अपनी तो कोई युक्ति होती नहीं, युक्ति-चेतना के लिये इन्द्रिय का साक्षात् वैसा ही होता है जैसा कोई और साक्षात्कार। हां, यह कह सकते हैं कि युक्ति-बुद्धि एकपक्ष नहीं, निष्पक्ष होती है, उस में पक्षधर्मता है ही नहीं। और फिर यह कहा जा सकता है कि ईसाइयत ने उसे निष्पक्ष नहीं रहने दिया। पर विज्ञान ही उसे कहां निष्पक्ष रहने देता है! अगर मज़हब के संस्थागत रूप से बुद्धि की निष्पक्षता के हनन की बात करें तो यह समस्या योरोप की अपनी है, अन्यत्र, जैसे भारत में, अलौकिक साक्षात्कार के प्रति भी उदार बुद्धि रही है। योरोप में ग्रीस की संस्कृति के उदार बहुदेववाद और परवर्ती ईसाइयत के एकदेववाद का संघर्ष हिंसा

की धरती पर हुआ जहां कट्टर, हिंस्र श्रद्धा अपना प्रसार नि:संकोच सत्ता और शक्ति के दंड से करती थी। पर श्रद्धा का यह रूप श्रद्धा का स्वरूप नहीं है। और ऐसा रूप तो, जिसे रीज़न या युक्ति-बुद्धि कहा जाता है, उसका भी हो सकता है – 'आधुनिक' पश्चिम इसका उद्दण्ड दृष्टान्त है। लौकिक और अलौकिक का भेद और तनाव सब सभ्यताओं में मिलता है, पर इसे किसी सीधे सपाट ढंग से श्रद्धा या फ़ेथ और युक्ति-बुद्धि या रीज़न का भेद कहना कतई उचित नहीं दिखता। श्रद्धा और युक्ति में योरोप जैसा नृशंस विरोध सब जगह कहीं दिखता ही नहीं। क्या फ़ेथ और रीज़न दोनों में स्वरूप से ही कोई क्रूर विभीषिका से भरा अंतर्विरोध है? ऐसा तो कुछ बुद्धि के आगे नहीं आता। रीज़न से सत्य मिलेगा, फ़ेथ से नहीं, यह भी एक श्रद्धा ही है – और यह बात रीज़न पर, बुद्धि पर, प्रकट ही है! हां, अगर श्रद्धा का अर्थ ही अलौकिकता संबंधी किसी सिद्धांत विशेष में श्रद्धा हो, जैसे ईसाइयत मत में श्रद्धा, तो बात और है। पर श्रद्धा का अपने आप में कोई ऐसा अर्थ है नहीं। फिर ईसाइयत में अवांतर मत और पंथ-भेद सभी अपने पक्ष में फ़तवा निकालते रहते थे और अनन्य श्रद्धा की मांग करते थे, यहां तक कि अकसर फ़ैसला सत्ता-शक्ति की हिंसा या दंड से ही हो सकता था – श्रद्धा या बुद्धि दोनों के हाथ से फ़ैसला छीन लिया जाता था।

शायद इसीलिये योरोप के परवर्ती इतिहासकारों ने बुद्धि या रीज़न को स्वरूप से ही लोकमुखी माना है – और स्वरूप से ही विज्ञान-उन्मुख, जहां आधारगत साक्ष्य इन्द्रिय का होता है, और जहां प्रमाण-व्यापार में प्रयोगशाला, प्रयोग और फल सब में इन्द्रियों की (कर्मेन्द्रियों की भी) अपेक्षा होती है। कह सकते हैं कि बुद्धि यहां सचमुच ही लोकमुखी होती है। पर बुद्धि को स्वभाव से ही ऐसा मानना एक आग्रह ही हो सकता है, सत्य नहीं। और ग्रीस भी ऐसा नहीं मानता था। यह हठ ग्रीस को 'आधुनिकता' की पूर्वपीठिका माननेवालों का ही है। पर यहां यह भी देखिये कि जिस इतिहास-धर्मी मनुष्य-दृष्टि की दुहाई देकर इतिहास को यह रूप दिया गया उसके व्यापक, उदार-भाव में ऐसा कोई हठ निहित नहीं है।

पर जो भी हो, योरोप की नई इतिहास-दृष्टि ने रीज़न को लोकमुखी ही माना और पुनर्जागरण में रीज़न की अदृष्ट से हट कर दृष्ट में पुन: प्रतिष्ठा देखी। इसका एक बड़ा साक्ष्य और लक्षण उन्होंने रिनेसां की नई, बदली रूप-दृष्टि में पाया। अब, यहां देखने की एक और बात है जिसे देखा नहीं जाता : पश्चिम का ग्रीस की कला से साक्षात् संबंध साहित्य के सिवा प्लास्टिक या मूर्ति, चित्र जैसी द्रव्य-निर्मित कलाओं में ही बनता है, दूसरी कलाओं में नहीं। तभी अपनी सभ्यता के इतिहास-चित्र में पश्चिम इन्हीं कलाओं को गौरव-मण्डित करता है, दूसरी कलायें आगे नहीं लाई जातीं। कारण साफ़ है : उनका ग्रीस से कोई अंतरंग संबंध नहीं है – ग्रीक परंपरा से उनकी कड़ी नहीं जुड़ती, कोई सार्थक सातत्य नहीं बनता। ग्रीक संगीत हमारे जैसा था : स्वर

की एक ही लड़ी - या एक-एक-एक स्वर-क्रमों की रेखागति कहिये -- वही प्रधान होती थी, जैसी हमारे आज के राग-संगीत में। या अरब देशों के संगीत में, जहां राग जैसे ही रूप हैं, और इनका संबंध ग्रीक संगीत से घनिष्ठ ही नहीं साक्षात् जुड़ता हुआ भी जान पड़ता है (विभिन्न अरब देशों के इलाकों में पहले ग्रीस और रोम का सीधा प्रभाव था, और पीछे बाइज़ेन्टाइन सभ्यता के माध्यम से यह और भी आत्मचेतन रूप से गृहीत हुआ; आज के पश्चिमी योरोप की तुलना में पूर्वी य़ोरोप की बाइज़ेन्टाइन सभ्यता ईसाई हो कर भी पश्चिमी योरोप से कहीं अधिक ग्रीक संस्कृति में ढली थी -- ग्रीक भाषा और वाङ्मय की उपलब्धि पश्चिम को वहीं से हुई और रिनेसां का बीज बनी; पर अरब ने भी वहीं से ग्रीक संस्कृति का पाठ पढ़ा -- दर्शन में ही नहीं, संगीत में भी)। योरोप का (और यों सारे पश्चिम का) संगीत आधारगत रूप से भिन्न है : वह अपनी गति में, अपने निभाव-व्यापार में ही दो या दो से अधिक स्वरों को साथ पिरोता चलता है, और ऐसे संवादी और संयुक्त स्वरों की एकाधिक लड़ियां भी साथ बढ़ाता चल सकता है। इस संगीत की परंपरा हज़ार-एक साल से ज़्यादा पुरानी नहीं, और ग्रीस से विच्छिन्न है। नाच में -- उच्चांग, स्वतन्त्र, विदग्ध कला के रूप में नाच में - योरोप की परंपरा और भी नई है -- दो-ढाई सौ साल से अधिक की नहीं। योरोप की रिनेसां में इन कलाओं की कोई ग्रीक भूमिका नहीं थी। अचंभा नहीं कि अपने को ग्रीस का वारिस बताती योरोप की इतिहास-दृष्टि अपनी (या दूसरी भी) सभ्यता के समग्र इतिहास-चित्र में इन कलाओं को वैसा तूल नहीं देती।

हमने भी योरोप से यही पाठ पढ़ लिया है। हम भी इतिहास-दृष्टि से अपनी सभ्यता की कहानी कहते हैं तो द्रव्य-निर्मित कलाओं को -- चित्र, मूर्ति, वास्तु को - ही सामने लाते हैं, जब कि थोड़ा भी जागरूक भाव से पुराने साक्ष्यों पर ध्यान दें तो पहले संगीत और फिर नृत्त का महत्त्व निःसन्दिग्ध उभरता है। इनकी तुलना में चित्र, मूर्ति की महिमा गौण है -- और स्पष्ट ही उतनी आत्मचेतन, विमर्श-बोध में जागती हुई भी नहीं है। संगीत की स्वायत्त महिमा वेद की आर्ष-बुद्धि में ही निहित है : वैदिक मंत्र के ही दो रूप हैं -- शब्दमय और स्वरमय। ऋक् और यजुः, ये शब्दमय हैं : ऋग्वेद, यजुर्वेद (और अथर्ववेद) में संगृहीत हैं। पर सामवेद इनसे नितांत भिन्न है -- साम गीति का नाम है, और साम मंत्र मंत्र हो कर भी शब्दमय नहीं है। उसके 'द्रष्टा' ऋषि भी दूसरे मंत्रों के शब्द-द्रष्टा ऋषियों से भिन्न हैं। स्वतन्त्र हैं। बाद के मीमांसकों ने साम को ऋक् का संस्कार कह दिया है, यों उसके होने को गौण और ऋक् पर निर्भर कर देना चाहा है। पर वैदिक साक्ष्य इसका समर्थन नहीं करते। सामवेद के ब्राह्मणों में तो प्रकट ही साम की महिमा स्वतन्त्र है।

इस बात को इसलिये यहां उठा रहा हूं कि हमारी सभ्यता के इतिहास-द्रष्टाओं ने योरोप की तरह सभ्यता में कला के महत्त्व को मानते हुए भी इधर कभी ध्यान नहीं

दिया - योरोप की नकल में, योरोप के विचार की छत्र-छाया में, कला का अर्थ द्रव्य-निर्मित (प्लास्टिक) कला ही लेते रहे। पर थोड़ा सा भी स्वायत्त विचार करते तो इतिहासकार अपने यहां संगीत के विलक्षण स्थान के महत्त्व-बोध से अवगत हो सकता था -- वेद को तो वह भारतीय सभ्यता के आधार में रखता ही है, पर वहां कला के स्थान को यह कह कर टाल देता है कि वैदिक संस्कृति में ठोस, द्रव्य-निर्मित कला का अभाव सा है, देवताओं की मूर्तियां या चित्र नहीं बनते थे, वास्तु परंपरा भी सीमित थी। पर सभ्यता के इतिहास में कला का महत्त्व कलागत संवेदना, और उस संवेदना की आत्मचेतना और उसके जागरूक भाव को महत्त्व देना है -- मनुष्य की काल-यात्रा में उसे मनुष्य के अत्मविमर्श के अंग के रूप में आँकना-परखना है। इसी दृष्टि से योरोप ने ग्रीस की चित्र, मूर्ति जैसी द्रव्य-निर्मित कलाओं को महत्त्व दिया है। पर, कहना न होगा, ये कलाएं कला का पर्याय नहीं होतीं और भिन्न सभ्यताओं में भिन्न कलाएं संवेदना के लिये अधिक महिम और ग्राह्य हो सकती हैं। वैदिक काल में संगीत की ऐसी ही स्थिति थी, और आज भी जो हमारी संवेदना संगीत को तूल देती है उसके पीछे वेदों तक जाती परंपरा है -- और फिर हमारे लंबे संगीत-चिन्तन और शास्त्र-ग्रंथों की वेदों से आज तक चली आती अटूट कड़ी में यह भाव जागरूक है।

सामवेद के जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण का एक उल्लेख करता आगे बढ़ता हूं। १०००-९०० ईस्वी पूर्व का यह ग्रंथ ऐसे साम गायन का उल्लेख करता है जो ऋक् के शब्दों को वैसे हटा देता था जैसे आज का विशुद्ध ध्रुपद-आलाप। ऐसे साम को वहां अनृक् साम का नाम दिया गया है, और उसकी सामान्य ऋक् गायन से विशेष महिमा है। एक ऐसे ही साम का और उल्लेख है जिसे 'अशरीरी' साम कहा गया है -- अवधेय है कि यह शब्द, 'अशरीरी',अपने अर्थ में आज के 'अमूर्त' का सधर्मी है।

योरोप की इतिहास-दृष्टि अपनी सभ्यता के स्वभाव-स्वरूप को ग्रीस-मूल समझने के लिये, और रिनेसां में उसकी भूमिका को आधार-गत आँकने के लिये ही ग्रीक साहित्य और द्रव्य-निर्मित (प्लास्टिक) कला को अपने इतिहास-चित्रों में महत् स्थान देती है। इन कलाओं के माध्यम से ही ग्रीक परंपरा योरोप में पुनरुज्जीवित हुई। अर्थात् इनसे परंपरा-सातत्य की कड़ी फिर से ग्रीस के साथ जुड़ी। तभी इनका विलक्षण महत्त्व है। पर हमारे यहां योरोपीय रिनेसां जैसी कोई परिस्थिति पनपी ही नहीं, फिर वास्तु, मूर्ति जैसी कला को विशेष महत्त्व क्यों? हमारे यहां परंपरा-विच्छेद हुआ भी है तो इस्लाम के आने के बाद वास्तु और मूर्ति कला में जितना और जितना गहरा हुआ है, संगीत और नृत्त में उतना नहीं। संगीत ग्रंथों का साक्ष्य बताता है कि परंपरा अविच्छिन्न रही (और यहां फ़ारसी ग्रंथों को भी शामिल किया जा सकता है)।

पर मैं नृत्त पर ध्यान कुछ विस्तार से एकाग्र करना चाहता हूं। शिष्ट, विदग्ध आत्मचेतन नाच भारत की पुरानी कला है और इस पर हमारे यहां विमर्श भी गहरा हुआ है। नृत्त उच्चांग स्वायत्त कला ही नहीं था, उस पर प्रौढ़ स्वायत्त शास्त्र-रचना भी हुई है। कला और कला-संवेदना के इतिहास के संदर्भ में प्राचीन नृत्त पर किसी व्यापक इतिहास-दृष्टि से ध्यान ही नहीं दिया गया। पर हम ध्यान दें तो संवेदना एक ऐसे उन्मेष से उन्मुख होंती है जिसे हम आज आधुनिक पश्चिम की विलक्षण सम्पत्ति मानते हैं : कला की स्वायत्तता की आत्मचेतन धारणा।

आज कला में - ख़ास कर चित्र और मूर्ति कला में - पश्चिम से आई 'अमूर्त' दृष्टि या प्रेरणा की बहुत चर्चा होती है। अमूर्त शब्द यहां बहुत सार्थक नहीं है क्योंकि अमूर्त का अर्थ है इंद्रिय-ग्राह्य आकार से विहीन होना; चित्र, मूर्ति, ऐसे हो ही नहीं सकते। कला में शब्द-निर्मित साहित्य ही एक ऐसी कला है जो अमूर्त कही जा सकती है : शब्द अर्थ के बिना शब्द नहीं होता और शब्दार्थ मूर्त - इन्द्रिय-गोचर - नहीं होता।

पर मैं यहां अर्थ-प्रपंच में उलझने नहीं बैठा हूं। अमूर्त शब्द का अर्थ कुछ भी हो, उसके तात्पर्य को लीजिये। एक तो सीधा सा, जाना-माना तात्पर्य यही है कि अमूर्त कला – चित्र, मूर्ति - ये प्रतिकृतियां नहीं बनाते, (या भरत के शब्दों में) मनुष्य या प्रकृति में उपलब्ध आकृतियों का 'अनुकरण' नहीं करते। ये उपलब्ध आकृतियां भी साधते हैं तो अपनी तरह से, अपनी चित्र-धर्मी, मूर्ति-धर्मी दृष्टि से उसे अभिव्यक्त करते हैं। यों उपलब्ध आकृति कला में अपनी तरह से स्वायत्त – कला-आयत्त - रूप लेती है; या इस से भी बढ़ कर कला ऐसे रूप साधती है जो कला के नितांत अपने होते हैं – मानो कला-कल्पना उसी स्रोत में बैठी रूप साध रही हो जो परिचित, उपलब्ध रूपों का मूल है।

कला-संवेदना के इतिहास में अमूर्त और उससे जुड़ी कला की स्वायत्तता का मूल योरोप-जात 'आधुनिकता' से आँका जाता है, और 'आधुनिकता' का संबंध योरोप से और योरोप-मानस की ग्रीस-बीज प्रतिभा से। आशय यह नहीं कि ग्रीक कला में अमूर्त जैसा कुछ था। आशय यह है कि योरोप में ग्रीक-चेतना की पुनर्जागृत धरती पर रिनेसां के साथ प्रतिभा की जिस पुनः-प्रतिष्ठ नई नव-नव उन्मेषमयी यात्रा का सूत्रपात हुआ वह नई नई क्रान्तियों का घर बनी – अमूर्त की कल्पना इन्हीं में से एक है। आधुनिकता की नींव जिस चेतना में है, रूढ़ियों का ग्रंथि-मोचन उसका एक मूल संकल्प है। मूर्तता एक रूढ़ि ही तो है! रिनेसां के बाद कला दृश्य या उपलब्ध की यथावत् प्रतिकृति की ओर मुड़ी और इस प्रवृत्ति ने प्रतिकृति को यथादृश्य बनाने के उद्देश्य से नये, अभूतपूर्व आत्मचेतन उपाय-कौशल साधे – चित्र के दो-आयामी पट पर दृश्य-जगत् के तीनों आयामों को ऐसा रूप दिया जाने लगा जैसा पहले कभी,

कहीं संभव ही नहीं था। यह भी कला में एक नया स्पंद ही था। इस स्पंद में एक स्वातन्त्र्य का भी बोध था। कह सकते है कि वही आगे चल कर अमूर्तता का बीज बना। और अब कला सचमुच स्वतन्त्र हुई। अपनी स्वायत्त संभावनाओं का संधान करने लगी। उसमें एक नया आत्मप्रतिष्ठा का युग आया जो कला के इतिहास में – कला-चेतना में ही – एक अपूर्व क्रान्ति है। यों अमूर्तता में बड़ी बात – धारणा का मर्म - रूढ़ि-मुक्त कला की आत्मप्रतिष्ठा है जो आधुनिकता के साथ ही संभव हुई है, अन्यथा रूढ़ियों के बंधन में, धर्म या दूसरे प्रयोजनों की दासता में, यह बोध कल्पना के बाहर था।

कला में पश्चिम-जात आधुनिकता की यह छवि, उसकी अपूर्वता की धारणा, आज हमारे भी बोध का संस्कार है।

पर हम अगर भारत की संगीत और नृत्त परंपरा के इतिहास की ओर देखें तो दूसरी और अपने आप में एक विलक्षण छवि उभरते देख सकते हैं।

छवि के केन्द्र में भरत के नाट्यशास्त्र को रख सकते हैं। नाट्यशास्त्र भरत का, या किसी भी एक लेखक का, है या नहीं, उसका कोई काल भी निश्चित किया जा सकता है या नहीं – इन बातों से छवि के सार में अंतर नहीं पड़ता। मैं समझता हूं, नाट्यशास्त्र को शुंग काल – द्वितीय से प्रथम सदी ईस्वीपूर्व - में रखना चाहिये। पर सदी-दो सदी इधर-उधर कर लीजिये, फ़र्क नहीं पड़ता।

पते की बात यह है कि नाट्यशास्त्र (और नाट्यशास्त्र-वर्णित नाट्य में) कई कलाओं का संगम है, और इनमें नृत्त, संगीत का विशेष महत्त्व है : नाट्यशास्त्र का एक बड़ा हिस्सा संगीत और नृत्त का लक्षण, वर्णन-विवेचन ही है। जो बात यहां चौंकाती है उसे तत्कालीन संगीत-नृत्त और नाट्य का स्वरूप-स्वभाव-भेद या मर्म-भेद, कह सकते हैं। नाट्य-कला का स्वरूप अनुकरण है – नाट्य का उद्देश्य ही लोक की, विशेषकर मनुष्य-लोक की, मंच पर प्रतिच्छवि का निर्माण करना है। भरत नाट्य का यही लक्षण करते हैं। हां, बात इतनी सरल-सपाट भी नहीं। भरत ने नाट्य को लोक का अनुकरण ही नहीं कहा है, अनुभावन भी कहा है। इसका अभिप्राय गहरा है। कला की दृष्टि से बात यह निकलती है कि नाट्य अपनी तरह से, अपने विलक्षण *माध्यम* से लोक की पुन:-प्रस्तुति करता है – तात्पर्य यह कि नाट्य स्वरूप से ही नाट्य-*धर्मी* होता है - या यों कहिये कि उसकी प्रस्तुति में अपनी स्वायत्तता होती है। तभी वह अपनी तरह से लोक का अनु-*भावन* करने में समर्थ होता है। इसका एक बड़ा प्रमाण - या संकेत कहिये – भरत ही के शब्दों में, यह है कि संगीत और नृत्य नाट्य की निर्मिति के ही अंतस्तत्त्व हैं : इनके बिना नाट्य रूप ही नहीं ले सकता, ये नाट्य के स्वरूप और स्वभाव में निमज्जित हैं – उसके अभिन्न अंग। पर फिर भी नाट्य अपनी निर्मिति के लिये आधारगत रूप से लोक-निर्भर है।

नाट्यशास्त्रकार को संगीत और नृत्त के रूप उपलब्ध थे, जिन्हें नाट्य का अंग बनाया जाता था। इन रूपों का अपना संभार ही नहीं, अपना शास्त्र-संभार — चिन्तन-विमर्श का संभार — भी नाट्यशास्त्रकार को उपलब्ध था। स्पष्ट है कि यह परंपरा नाट्य से पुरानी थी, पहले से प्रतिष्ठित थी। पर सबसे बड़ी बात यह है कि भरत को उपलब्ध संगीत, नृत्त की प्रौढ़ परंपरा, उसके शिष्ट, विदग्ध रूप, आत्मचेतन भाव से अनुकरण-विमुख थे। और भरत इस बात से अवगत थे। उन्हें यह भी बोध था कि उपलब्ध संगीत और नृत्त के रूपों का गहरा अभिप्राय-गत रूपान्तर साधे बिना उन्हें अनुकरण या अनुभावन-धर्मी नाट्य का सार्थक अंग नहीं बनाया जा सकता। भरत के शास्त्र की एक महती चेष्टा इस रूपान्तर के साधने से ही संबंध रखती है — रूपान्तरण क्या हो, कैसे हो, उसका विमर्श-गत आधार क्या हो और उनका नाट्य-प्रयोग में स्थान क्या हो? - भरत को ऐसे प्रश्नों का उत्तर साधते देखा जा सकता है। भरत के नाट्य को एक गहरे अर्थ में अमूर्त, स्वायत्त कलाओं को नाट्य-आयत्त करने का बृहत् प्रयास कहा जा सकता है।

कला-चेतना को केन्द्र में रखते हुए हम कला का कोई भी गहरा, आत्म-विमर्श–निष्ठ इतिहास उभारना चाहें — सभ्यता में कला का स्थान और महत्त्व आँकना चाहें तो भरत ने संगीत और नृत्त पर जो समझा-सोचा है, उसे परिप्रेक्ष्य में रखना होगा। और अपनी सभ्यता के कला-बोध के लिये तो यह अनिवार्य है।

विवेचन विस्तार चाहता है, पर विस्तार में यहां नहीं जाऊंगा — अन्यत्र कुछ विचार किया है, पर यहां उसका प्रसंग नहीं; यहां उसे ऊह्य रखता हुआ कुछ मुख्य अभिप्रायों और परंपरा की मूल गतिविधियों को ही सामने लाने की चेष्टा करूंगा।

नृत्त पर ही विचार को केन्द्रित करूंगा, संगीत पर नहीं, क्योंकि कुछ प्रमुख बातें जिन्हें आगे लाना चाहता हूं, नृत्त में ही अधिक स्फुट जान पड़ती हैं।

एक छोटी सी कथा से आरंभ करता हूं — नाट्यशास्त्र अपने प्रतिपादन में पुराण की कथा-भंगी का भी प्रयोग करता है : नाट्यशास्त्र को भरत (मुनि) के ऋषियों की सभा में कथन के रूप में बांधा गया है। नाट्य को एक दिव्य, लोकोत्तर 'आर्ष' कला के रूप में प्रस्तुत करना भी भरत का अभिप्राय था। तभी वे नाट्य को चतुर्वेद से उद्भूत पंचम वेद भी बतलाते हैं (जिसका अधिकार सीमित नहीं, मनुष्य-मात्र, स्त्री-शूद्र सबके लिये है)।

कथा यह है कि भरत ने जब नाट्य का निर्माण कर लिया तो उन्होंने अपना प्रयोग सबसे पहले भगवान शिव के आगे प्रस्तुत किया (उन से बड़ा रसिक कौन हो सकता था?)। शिव जी ने प्रशंसा की, पर एक बात कही; बोले कि मैं नृत्त करता हूं, तुम उस नृत्त का नाट्य में समावेश कर लो। भरत ने कहा नृत्त मुझे सिखाइये।

शिवजी ने तंडु से कहा कि भरत को नृत्त बताओ। यों नाट्यशास्त्र में एक पूरा अध्याय तंडु के नृत्त-लक्षण पर है। नाच पर ऐसी सर्वांगीण, सुचिन्तित रचना कहीं नहीं मिलती। इसे 'सर्वांगीण' कहना इसलिये भी ठीक है क्योंकि यहां शिव के नृत्त का ऐसा लक्षण है जिसमें नाच करते हुए उनके शरीर की गतियों (और स्थितियों) की सूक्ष्म अंग-प्रत्यंग की व्याक्रिया (या विभाजन) की गई है – अर्थात् नाच को शरीर के विभिन्न अंगों की गतियों (या स्थितियों) में बाँटा गया है और संपूर्ण शरीरगत रूपों को इन अणुतर रूपों के संयोजन के रूप में देखा गया है। तंडु के नाम से ही नृत्त का नाम तांडव भी है।

तंडु की पैठती, रूपग्राही व्याक्रिया-पद्धति पाणिनि के व्याकरण की याद दिलाती है, जहां शास्त्रकार ने शब्दरूपों को विभिन्न अंगों - धातु, प्रत्यय, उपसर्ग - में बाँट कर शब्द को इनके संयोजन के रूप में देखा है – यों, शब्दों का *व्याकरण* किया है। संभव है तंडु पर पाणिनि का प्रभाव रहा हो, पर उनमें और पाणिनि में एक गहरा उद्देश्यगत भेद है, जिसकी चर्चा आगे करूंगा। पर यहां प्रभाव की बात न कर एक सामान्य व्याख्या परंपरा की भी बात की जा सकती है। 'व्याक्रिया' की ऐसी पद्धति पाणिनि से भी बहुत प्राचीन उभरती है, और इसे आत्मचेतन भारतीय बुद्धि का एक आदि व्याख्या-मार्ग भी कहें तो मैं समझता हूं, बात अयुक्त न होगी।

प्रकट ही तंडु भरत से प्राचीन हैं, पर कितने यह कहना कठिन है। उनका ग्रंथ नहीं मिलता, न नृत्त पर किसी और आचार्य का कोई स्वतन्त्र ग्रंथ बचा है। पर नृत्त पाणिनि जितना प्राचीन भी नहीं जान पड़ता – पाणिनि ने कई शास्त्रों की बात की है, पर नृत्त की नहीं। पाणिनि पाँचवी या छठी सदी ईस्वी-पूर्व में हुए, तंडु उनके बाद ही हुए जान पड़ते हैं। पर पाणिनि के बाद और भरत के पहले (पाँचवी-छठी ईस्वी-पूर्व और दूसरी-तीसरी ईस्वी-पूर्व के बीच) नृत्त की ही तरह संगीत के एक विशुद्ध रूप, गांधर्व, पर भी प्रौढ़ शास्त्र रचे गये। इनमें एक उपलब्ध है : दत्तिलम्। भरत ने नृत्त की ही तरह संगीत के विशुद्ध रूप, गांधर्व, का लक्षण-विवरण भी अपने शास्त्र में संजोया है। नृत्त का शिव से संबंध स्पष्ट है। गांधर्व का भी शिव से सम्बंध गहरा था। जान पड़ता है, नृत्त और संगीत दोनों के विशुद्ध रूप शैवों में उद्भूत हुए। भारतीय कला ही नहीं, सभ्यता मात्र की कला के इतिहास में इसे संवेदना का एक विलक्षण 'स्फोट' कहा जा सकता है; हम अगर इसे देखते नहीं तो इसलिये कि हम अपनी इतिहास-दृष्टि से अपनी ओर ठीक देखते ही नहीं हैं।

मैंने नाच में नृत्त –तांडव – और संगीत में गांधर्व को इन कलाओं का 'विशुद्ध' रूप कहा। कहना न होगा, विशुद्ध शब्द का यहां वही अर्थ है जो आज चित्र, मूर्ति में अमूर्त का लिया जाता है। नृत्त अभिनय नहीं है, जहां कला अपने रूपों के माध्यम से अपने बाहर के लोक का अनुकरण (या अनुभावन) करती हो। संगीत गेय

शब्दों के माध्यम से ऐसा करता है – पर गांधर्व में गेय शब्दों का महत्त्व नहीं था। आज भी गांधर्व जैसे विशुद्ध संगीत की और तांडव जैसे विशुद्ध नाच की परंपरा हम में जागृत है, इनसे हमारा गहरा परिचय भी है, हम इनमें रमते हैं – पर हमारी बुद्धि की आँख इन्हें 'अमूर्त' के रूप में नहीं देख पाती – अपने इन रूपों को देखते-परखते हुए भी अमूर्त की धारणा और उस से जुड़ी कला की स्वायत्तता की संवेदना को हम 'आधुनिकता' के अब-तक-अनहोने, अपूर्व स्फोट के रूप में ही देखते हैं, और आधुनिक तो हमारे लिये परिभाषया पश्चिम-प्रसूत है।

ऐसे 'आधुनिक' के ही संदर्भ में यहां भरत की नृत्त-कथा को आगे बढ़ाता हूं। कह आया हूं कि शिव जी के आदेश पर तंडु ने भरत को नृत्त का उपदेश दिया। ध्येय यह था कि नृत्त को नाट्य का अंग बनाया जायेगा। अपना सारा कथन - अपना शास्त्र - भरत ऋषि मंडली को सुना रहे थे। नृत्त का वर्णन-लक्षण करने से पहले भरत नाट्य की यह परिभाषा दे चुके थे कि नाट्य लोक का अनुकरण-अनुभावन होता है - यह नाट्य का स्वरूप है, जिसके बिना नाट्य नाट्य ही नहीं हो सकता। नृत्त का वर्णन सुन कर ऋषि सहज ही प्रश्न करते हैं कि नृत्त का नाट्य में स्थान ही क्या? - नाट्य अभिनय से बनता है, पर नृत्त अपने से बाहर किसी अर्थ को सामने ही नहीं लाता (जैसे अभिनय लाता है, तो फिर नाट्य में नृत्त क्यों? भरत स्वीकार करते हैं कि नृत्त अपने बाहर किसी अर्थ का वहन नहीं करता। यह भी कहते हैं कि उसका प्रयोजन शोभा है (नाट्य की तरह रस नहीं) – अर्थात् कला के रूप में उसका स्वभाव अनुकरण-भिन्न है, इसलिये संवेदना में उसका भावन भी भिन्न है, दोनों को एक ही कोटि में - रस की कोटि में - नहीं रखा जा सकता।

भरत की (और ऋषियों की) बात का तात्पर्य प्रकट है, पर भरत बात के किसी विस्तार या विवेचन में नहीं उतरते। पर आगे की चिन्तन-परंपरा में ऐसा विवेचन हुआ। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के प्रसिद्ध रसिक दार्शनिक अभिनवगुप्त इस प्रसंग में एक शब्द का प्रयोग करते हैं जो अवधेय है। अभिनवगुप्त नृत्त को 'स्वयंप्रतिष्ठ' कहते हैं। यह शब्द अमूर्त की धारणा में निहित कला की विशुद्धता (अनुकरण-मुक्ति) और रूप-कल्पना की स्वायत्तता के बोध को बड़ी सार्थक ध्वनि के साथ पकड़ता है। पर बात यहां अभिनवगुप्त की नहीं है। बात हमारी इतिहास-दृष्टि की है। नृत्त, संगीत के विशुद्ध रूप आज भी हमारे सामने हैं; इनकी विशुद्धता और अमूर्तता का भी हमें बोध है; हम में यह बोध भी जागरूक है कि इन रूपों का संबंध हमारी सभ्यता के आद्य काल से है, पर हमारी इतिहास-दृष्टि पर पश्चिम की छाया इतनी घनी है कि हम अपनी ओर आत्मस्थ हो कर देख ही नहीं पाते। तभी हमारे कला के इतिहास में उन कलाओं का स्थान ही नहीं जिन्हें पश्चिम अपने स्वकीय कारणों से अपने सभ्यता-चित्र में महत्त्व नहीं देता।

एक दिलचस्प और लक्षणीय बात यहां यह भी है कि भरत के शास्त्र में हम एक ऐसी कला-प्रवृत्ति का प्रकाश पाते हैं जिसे 'आधुनिक' प्रवृत्ति का विलोम भी कह सकते हैं। आधुनिक प्रवृत्ति मूर्त का रूपांतर साधती हुई अमूर्त की ओर बढ़ती दिखती है -- अनुकरण धर्म को छोड़ती हुई स्वयंप्रतिष्ठ होने का मार्ग लेती है। भरत की चेष्टा उलटी है। भरत संगीत के और नृत्त के स्वयंप्रतिष्ठ रूपों को नाट्य में समोना चाहते हैं -- अमूर्त को मूर्त रूप देना चाहते हैं। इसके लिये उन्हें उपलब्ध का रूपांतर साधने की आवश्यकता थी। उन्होंने यह साधा है और बड़े कौशल से -- रूप के स्तर पर भी विमर्श के स्तर पर भी। पर इसके ब्यौरे की यहां ज़रूरत नहीं।

एक और बात को थोड़ा उभार कर बात पूरी करता हूं।

ऊपर मैंने तंडु के शास्त्र को पाणिनि के सदृश कहते हुए भी अलग, विलक्षण कहा। विश्व के कला-चिंतन में उसको विलक्षण कहा जा सकता है। कला का इतिहासकार अगर कला-चेतना को अपने विमर्श का विषय बना चाहता है, केवल कला के रूपों को ही नहीं, तो तंडु की उपेक्षा उचित नहीं।

बहुत संक्षेप में पाणिनि और तंडु के भेद को यों रखा जा सकता है : पाणिनि का उद्देश्य उपलब्ध भाषा के सिद्ध-प्रदत्त शब्दों को ही व्याक्रिया द्वारा साधना है, जब कि तंडु की व्याक्रिया साध्य-उन्मुख है, नये रूपों की संभावना का द्वार खोलती है। कल्पना को प्रश्रय देती है। पाणिनि के बाद उनकी परंपरा में व्याकरण के महान चिन्तक पतञ्जलि हुए। पतञ्जलि स्पष्ट कहते हैं कि वैयाकरण घटकार की तरह नहीं होता : घटकार से हम कहते हैं कि नया घड़ा गढ़ दो, वैयाकरण से हम ऐसा नहीं कहते। पर तंडु से हम ऐसा कह सकते थे।

तंडु की व्याक्रिया का विषय भी नाच का एक सिद्ध-प्रदत्त रूप ही था। इसे गढ़े-गढ़ाये रूपों का एक ऐसा आकर या संभार कहा जा सकता था जिसे शिव-रचित और शिव से प्राप्त माना जाता था। इस से यही आपादित होता है कि रूप यथा-दत्त संरक्षणीय होने चाहियें थे। पतञ्जलि संस्कृत भाषा को यों का यों संरक्षीय मानते हैं और व्याकरण को संरक्षण का साधन। वे इस पर ज़ोर भी देते हैं, और इसीलिये व्याकरण के ज्ञान को शिष्ट का धर्म बताते हैं। हम सोच सकते हैं कि तंडु की नृत्त-व्याक्रिया का भी प्रयोजन सदृश होना चाहियो था : भगवान शिव की सृष्टि को ज्यों का त्यों बनाये रखना। पर हम पाते उलटा ही हैं।

तंडु की व्याक्रिया का एक समीचीन लक्षण : अवयवी का अवयवों में विभाजन हो सकता है -- जहां अवयव विभाज्य का ऐसा लघुतम भाग होता है जो अपने आप में भी अर्थवत् होता है, निरा 'छोटे से छोटा टुकड़ा' नहीं होता -- क्योंकि ऐसे टुकड़े को *अवयव* नहीं कहा जा सकता, अवयव अवयवी-सापेक्ष होता है, निरपेक्ष टुकड़ा नहीं।

पाणिनि के बारे में भी यही कहा जा सकता है – हालांकि उनमें बात इतनी प्रकट नहीं है : हम आम तौर पर शब्द को ही भाषा के लघुतम अर्थवत् अवयव के रूप में देखते हैं। इसलिये, शब्द का भी विभाजन किया जाये तो विभागों को अर्थवत् कहने में संकोच हो सकता है। पर धातु, प्रत्यय, उपसर्ग, ये प्रकट ही निरर्थक नहीं होते, इनके रूप अर्थ को ध्यान में रख कर सिद्ध होते हैं; यह बात तब साक्षात् आगे आ जाती है जब हम देखते हैं कि इनका और भी विभाजन संभव है, पर अब जो टुकड़े बनेंगे सचमुच निरर्थक होंगे।

तंडु की व्याक्रिया के दो स्तर देखे जा सकते हैं। शिव के नृत्त के बृहत्तम अवयवी को (एक पूरी रचना को) अंगहार कहा जाता था। शिव ने बत्तीस अंगहारों की रचना की थी। अंगहार की व्याक्रिया करते हुए पहले स्तर पर तंडु उसे 'करणों' का समाहार बताते हैं। करण समूचे – सर्वांग – शरीर की मुद्रा विशेष का नाम है। तंडु ने १०८ करणों का लक्षण दिया है। पर शरीर के विभिन्न अंग भी अलग मुद्राएं रच सकते हैं – बल्कि सच पूछिये तो एक करणों का भेद शरीर के भिन्न अंगों के मुद्रा-भेद से ही बन सकता है। तंडु का अगला लघुतर विभाजन इसी युक्ति पर आधारित है। एक एक अंग की एक एक संभव मुद्रा को तंडु नृत्त-मातृका का नाम देते हैं। तांडव मुद्रा-समृद्ध नाच था, यों मातृकायें अनेक हैं; ये मातृकायें ही सर्वांग-व्यापी भिन्न योजनाओं या समाहारों से भिन्न करणों को जन्म देती हैं।

तंडु की व्याक्रिया बड़ी पैनी, फिर भी युक्ति-सरल है – नृत्त-मातृकाओं से करण बनते हैं और करणों से अंगहार। यही व्याक्रिया की गहराई है। पर आगे उसका विशेष उन्मेष देखिये। व्याक्रिया के बाद प्रश्न होगा कि करणों के किन विशेष संयोजनों से शिव के पूर्व-प्रदत्त अंगहारों की सिद्धि होगी ?

यहां तंडु एक विस्मयकर बात कहते हैं। कहते हैं कि दो या दो से अधिक करणों की यथेष्ट योजना से एक अंगहार बनता है। यों शिव के बत्तीस ही क्यों अनगिन अंगहार अपनी इच्छा, कल्पना अनुसार बनाये जा सकते हैं! और अगर नृत्त-मातृकाओं के संयोजना-भेदों की संभवनाओं को भी सामने रखें तो करण भी १०८ से कहीं ज़्यादा बनते दीखते हैं। तंडु की व्याक्रिया ने संभावनाओं का, नवोन्मेष का द्वार खोला था और परंपरा भी उसी द्वार से बढ़ी। आज ओड़ीसी तक चली आ रही है।

भारतीय दर्शनों के विभिन्न वर्गीकरण

नारायण शास्त्री द्राविड़

कोई भी वर्गीकरण वर्गीकृत वस्तुओं या बातों की परस्पर व्यावर्तक विशेषताओं के स्पष्टीकरणार्थ किया जाता है। इन विशेषताओं के आधार पर ही वर्गीकृत वस्तुओं या बातों के 'अन्यूनानतिरिक्त' स्वरूप के लक्षण निर्धारित करना संभव होता है। वर्गीकृतों की सभी विशेषतायें उनके लक्षण का आधार नहीं होतीं। जैसे प्राणियों का वर्गीकरण मनुष्य और मनुष्येतर जीवों में किया जाय और इस वर्गीकरण का आधार 'द्विपाद हँसने वाले और उनसे भिन्न जीव' इन परस्पर व्यार्तक विशेषताओं को मान लिया जाय तो वह वर्गीकरण तर्कसंगत और आनुभविक भी होगा लेकिन इन विशेषताओं को क्रमशः मनुष्य और मनुष्येतरों का लक्षण नहीं समझा जा सकता, भले ही मनुष्य ही द्विपाद हँसने वाला प्राणी हो और कोई मनुष्येतर प्राणी ऐसा नहीं हो। मनुष्य के लक्षण के रूप में 'विचारक्षम प्राणी' इस विशेषता को ही पुरस्कृत किया जाता है। इस विषमता का कारण यह है कि 'द्विपाद हँसने वाला प्राणी' यह मनुष्य की मौलिक विशेषता नहीं है न ही ऐसा न होना मनुष्येतर प्राणियों की मौलिक विशेषता है। विचारक्षमता, अर्थात् किसी बात को समझने-परखने की क्षमता तथा विशिष्ट प्रकार की शारीरिक आकृति, जिसमें हाथ, पैर आदि सभी अंग।। का समावेश होता है, मनुष्य की मौलिक विशेषताएं हैं जिनके फलस्वरूप मनुष्य (और मनुष्य ही) द्विपाद हँसने वाला प्राणी हुआ करता है। इस कारण इन विशेषताओं को–जो मनुष्य में ही विद्यमान होती हैं–गौण माना जाकर उनका मनुष्य के लक्षण में समावेश नहीं किया जाता। यही बात मनुष्येतर प्राणियों की उक्त निषेधात्मक विशेषता के संबंध में कही जा सकती है। कोई भी शुद्ध निषेधात्मक विशेषता किसी भी वस्तु-समुदाय को ठीक तरह लक्षित नहीं कर सकती। ऐसी विशेषता लक्षित वस्तु का मौलिक धर्म है या गौण यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। वर्गीकरण संबंधी इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यदि हम भारतीय दर्शनों के विभिन्न संप्रदायों के वर्गीकरण का प्रयास करें तो उपर्युक्त कठिनाई जैसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भिन्न-भिन्न दर्शन-संप्रदायों में भिन्न-भिन्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। इनमें से किस विशेषता को मौलिक और किस विशेषता को गौण माना जाय और वह भी किस संप्रदाय विशेष या संप्रदाय-समूह की, यह निर्धारित करना अतीव कठिन हो जाता है। प्रस्तुत लेख में हम भारतीय दर्शन-संप्रदायों की केवल मौलिक या मौलिक मानी जा सकने वाली कुछ प्रमुख विशेषताओं की (जो उनके वर्गीकरण का आधार हो सकती हैं) चर्चा करेंगे।

सर्वप्रथम हम भारतीय दर्शनों के परंपरागत तथा सुप्रसिद्ध वर्गीकरण की आधारभूत मानी गयी विशेषता का विचार करेंगे। यह विशेषता 'आस्तिक-नास्तिक' इस विशेषण-द्वय के द्वारा व्यक्त की जाती है। इन विशेषणों के दो या तीन परस्पर-विरोधी अर्थ माने जाते हैं। पहला अर्थ 'मरणोत्तर जीवात्मा के पारलौकिक विदेही अस्तित्व तथा मोक्षावस्था प्राप्त होने तक उसका विभिन्न देहों में पुन: पुन: जन्म के द्वारा संक्रमण' है। इस अर्थ के अनुसार जैन, बौद्ध जैसे सामान्यत: नास्तिक माने जाने वाले दर्शन भी आस्तिक माने गये न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों के समान आस्तिक माने जा सकते हैं। केवल चार्वाक दर्शन ही, जो पूर्णतया देहात्मवादी है, नास्तिक ठहराया जा सकता है। जैन, बौद्ध दर्शन भी पारलौकिक अस्तित्व–आत्मा या विज्ञान-परम्परा का–तथा मोक्षावस्था तक इनके शरीर संक्रमण को स्वीकार करते हैं। उक्त पद-युगल का दूसरा अर्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह आस्तिक माने जाने वाले दर्शनों को एक जैसा लागू नहीं होता, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह अर्थ 'विश्वनिर्माता (तथा रक्षक एवं विनाशक भी) ईश्वर की सत्ता का स्वीकार या अस्वीकार' यह है। सामान्यत: यह माना जाता है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा-वेदान्त (शांकर तथा रामानुजीय अथवा माध्व, निम्बार्क आदि अन्य वेदान्त संप्रदायों के साथ) ईश्वर की सत्ता के पुरस्कारक दर्शन हैं, जबकि जैन तथा बौद्ध (उसके चार संप्रदायों के साथ) दर्शन ईश्वर की सत्ता का पूर्णतया निषेध करने वाले दर्शन हैं। लेकिन वास्तविकता ऐसी बिल्कुल नहीं है। न्यायदर्शन को ही लीजिये। उसके आकर ग्रंथ—गौतम-प्रणीत न्यायसूत्र—में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने वाले प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये हैं। केवल दो सूत्रों में इस सत्ता का निर्देश मात्र किया गया है, जबकि आत्मा, मन आदि अनिन्द्रिय पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। विश्व-निर्माता के रूप में ईश्वर का स्थान जीवात्मा से कहीं श्रेष्ठ है किन्तु यह श्रेष्ठता सूत्रों से प्रकट नहीं होती।

न्याय के साथ बहुत कुछ ऐकमत्य रखने वाले वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता का सुस्पष्ट उल्लेख कणादमुनिप्रणीत वैशेषिक दर्शन के आकर ग्रंथ–वैशेषिक सूत्रों–में किया गया है यह निश्चर्यपूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि न्याय की प्रमाण-मीमांसा को वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा के साथ जोड़कर जिस समन्वित न्याय-वैशेषिक दर्शन की उदयनाचार्य आदि प्राचीन नैयायिकों ने रचना की है उसमें ईश्वर की सत्ता को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उदयनाचार्य ने तो ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के उद्देश्य से ही न्यायकुसुमाञ्जली नामक ग्रंथ की रचना की है। इस कारण न्यायवैशेषिक दर्शन को पूर्णतया ईश्वरवादी मान सकते हैं और उसकी आस्तिकता को संशयातीत समझ सकते हैं। किन्तु मीमांसा तथा सांख्य को 'ईश्वरवादी' मानना संभव नहीं प्रतीत होता। उनके अनुसार विश्व की उत्पत्ति, स्थिति आदि मानवों तथा अन्य प्राणियों के भोग-साधन के रूप में उनके शुभाशुभ कर्मों के ही परिणाम हैं, विश्व-निर्मात्री अन्य कोई सत्ता

नहीं है, ऐसा मीमांसा का मंतव्य है। कुछ मध्यकालीन भारतीय दार्शनिकों ने मीमांसा को आस्तिक ठहराने के लिए एक 'सेश्वर मीमांसा संप्रदाय का' निर्माण किया था, लेकिन वह दार्शनिक-परंपरा में स्वीकार्य नहीं हो पाया। ऐसी ही अवस्था सांख्य दर्शन की भी है। इस दर्शन में पुरुष या आत्मा के भोग तथा अपवर्ग का कारण प्रकृति रूप जड़ तत्त्व को माना गया है। पुरुष के अज्ञानकृत सान्निध्य से प्रकृति संसार को अपने अन्तरंग से उद्‌भावित करती है और यह सान्निध्य तत्त्व-ज्ञान के द्वारा समाप्त हो जाने पर पुरुष के लिए संसार का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ईश्वर का इस भोगापवर्ग-प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं है। वैसे देखा जाय तो पुरुष का भी इस प्रक्रिया के घटित होने में कोई दायित्व नहीं है। यह प्रक्रिया जड़ प्रकृति में उसी की स्वाभाविक परिणामिता के कारण घटित होने वाली जड़ प्रक्रिया है जिसके लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार सांख्य दर्शन ने भी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार कर दिया है। मीमांसा के समान सांख्य को भी सेश्वर सिद्ध कर उसकी आस्तिकता प्रस्थापित करने का दार्शनिकों ने प्रयास किया है। शायद सेश्वर सांख्य नामक ग्रन्थ की भी मध्यकालीन किसी दार्शनिक ने रचना की है। किन्तु इस बात को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

सांख्य से जुड़ा हुआ या जोड़ा गया योगदर्शन ईश्वर की सत्ता का स्वीकार स्पष्ट रूप से करता है इसलिये सांख्य भी इस सत्ता का पुरस्कारक है, ऐसी भ्रान्ति संभव है। लेकिन सांख्य और योग इन दर्शनों की प्रमाणमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा की परस्पर तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दो दर्शन वास्तव में परस्पर असंबद्ध हैं। न सांख्य की प्रमाणमीमंसा, न उसकी ज्ञानमीमांसा या तत्त्वमीमांसा योग की प्रमाण-मीमांसा, ज्ञानमीमांसा अथवा तत्त्वमीमांसा के साथ तुलनार्ह हैं, इन दोनों दर्शनों के भोगापवर्ग संबंधी विचार भी एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

गहराई से देखा जाय तो योगदर्शन में ईश्वर का स्थान उतना ही न्यून है जितना शुद्ध न्याय में ईश्वर का स्थान। योग-साधना के अंतर्गत नियमों में ईश्वर-प्रणिधान को एक नियम के रूप में पुरस्कृत किया गया है। ईश्वर का विश्व-निर्माणादि-प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं है। इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि बलात् ईश्वर की सत्ता का समावेश योगदर्शन में, उसे आस्तिक सिद्ध करने के लिए किया गया है। यदि यह बात सही हो तो सांख्य और योग इन दोनों को स्पष्टतया ईश्वरवादी या निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता।

शांकर वेदान्त को सामान्यतया ईश्वरवादी माना जाता है। इस दर्शन में सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म ही परमसत् माना गया है। यह सत् अनिर्वचनीय अर्थात् निर्गुण, निराकार तथा निर्धर्मक तत्त्व है। इस कारण यह अविद्या-परिच्छिन्न सगुण परमेश्वर से कहीं श्रेष्ठ है। या यह कह सकते हैं कि परमेश्वर जीवात्मा के समान ही एक औपाधिक तत्त्व है जिसे ब्रह्मरूप परमतत्त्व का स्थान नहीं दिया जा सकता। अद्वैत की परमसत्यविषयक इस

धारणा को देखते हुए उसे स्पष्टतया ईश्वरवादी कहना उचित या तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

अन्य वेदान्त-संप्रदायों की ऐसी बात नहीं है। रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवेदान्त न्याय वैशेषिक के समान सब प्रकार से ईश्वरवादी है, लेकिन ईश्वर और विश्व के संबंधों को न्याय वैशेषिक के समान बाह्य कर्त्तृत्वरूप न मानकर उसे इस दर्शन ने आन्तरिक माना है। ईश्वर के सगुण, साकार, सधर्मक स्वरूप को रामानुज ने विशेष महत्त्व दिया है। माध्व, निम्बार्क, भास्कर आदि के द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दर्शनों ने भी भिन्न भिन्न रूप से ईश्वर और विश्व के संबंध की कल्पना की है। ये सब वेदान्त अपने अपने ढंग से ईश्वरवादी हैं। अब जैन और बौद्ध दर्शनों की ओर दृष्टिपात करें। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सूरि मल्लिषेण अपने एक ग्रंथ का मङ्गलाचरण इस प्रकार करते हैं–

'कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः।
स सर्वगः सर्वगतश्च नित्यः।
इमाः कुहेवाक् विडम्बनाः स्युः।
तेषां न येषामसि शासकस्त्वम्।

इस श्लोक में ग्रंथकार जिन भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि जो लोग जिन भगवान् के शासन या सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते वे ही सर्वव्यापी, नित्य, विश्वनिर्मायिक किसी सत्ता की भ्रान्तिमय कल्पना या वर्णन में उलझे रहते हैं। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता का तिरस्कार कर उसके स्थान में जिन भगवान् की, जिन्हें केवली अर्थात् सर्वज्ञ माना गया है–प्रतिष्ठापना जैन दर्शन ने कर डाली है। यह बात अलग है कि कर्म को ही संसार और जीवात्मा के सांसारिक बंधन का कारण इस दर्शन ने मान लिया है (जिन भगवान पर विश्व-निर्माण की जिम्मेदारी नहीं डाली गयी है)।

बौद्ध दर्शन ने भी जैन दर्शन के ही समान ईश्वरवाद की घोर निन्दा की है। विख्यात बौद्ध पंडित धर्मकीर्ति अपने **प्रमाणवार्तिक** नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के अन्त में कहते हैं कि–

वेदप्रामाण्य कस्यचित् कर्त्तृवादः।
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः क्लेशहानाय चेति।
ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये।।

वेदों को स्वतःप्रमाण मानना, ईश्वर को विश्व-निर्माता समझना, स्नान से पुण्य प्राप्ति की कामना करना, जाति का गर्व करना ये सब मति-भ्रष्ट (आस्तिक लोगों की) जड़ता के लक्षण हैं। ईश्वर विश्वनिर्माता क्यों नहीं हो सकता या विश्व का एक

ही निर्माता क्यों नहीं हो सकता, ये बातें सिद्ध करने के लिए धर्मकीर्त्ति ने कुछ तर्क अपने ग्रंथ में प्रस्तुत किये हैं। उन तर्कों की चर्चा करने के बदले हम धर्मकीर्त्ति-कृत **प्रमाणवार्तिक** ग्रन्थ के मङ्गल श्लोक को यहां उद्धृत करेंगे। श्लोक इस प्रकार है–

विधूत कल्पनाजाल गंभीरोदार मूर्त्तये।
नमः समन्तभद्राय समन्तस्फुरणत्विषे।।

इस श्लोक में भगवान् बुद्ध के गुणों का वर्णन करते हुए उनके प्रति नमस्कार का निवेदन किया गया है। धर्मकाय, निर्माणकाय तथा संभोगकाय इन तीन प्रकार के अंगों से युक्त होकर समस्त विश्व को प्रकाशित करने वाले बुद्ध भगवान का श्लोक में वर्णन है। स्पष्ट ही है कि आस्तिकों के ईश्वर के स्थान में बुद्ध भगवान को धर्मकीर्त्ति ने प्रतिष्ठित कर दिया है। आश्चर्य की बात यह है कि ईश्वर की सत्ता को किसी न किसी रूप में अपनाकर भी ये बौद्ध और जैन दार्शनिक अपने को निरीश्वरवादी समझते हैं जबकि ईश्वर की सत्ता का उल्लेख तक न करने वाले मीमांसक तथा सांख्य के अनुयायी ईश्वरवादी आस्तिक दार्शनिकों की श्रेणी में गिनाये जाते हैं।

अब आस्तिक-नास्तिक पदों के तीसरे और सुविदित अर्थ का विचार करें। यह अर्थ 'वेदप्रामाण्य का पुरस्कार या अपुरस्कार' यह है। सभी तथाकथित आस्तिक दर्शन वेदों अर्थात् संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् घटित (इनमें श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों का भी समावेश करना चाहिये) वैदिक वाङ्मय को प्रमाणभूत मानने वाले और जैन, बौद्ध दर्शन वेदप्रामाण्य का तिरस्कार करने वाले समझे जाते हैं। क्या यह बात पूर्णतया सही है? नास्तिक दर्शन वेदप्रामाण्यवादी नहीं हैं, यह बात उपर्युक्त श्लोक से ही स्पष्ट हो जाती है। किन्तु क्या आस्तिक दर्शन वास्तव में वेदप्रामाण्य पुरस्कारक माने जा सकते हैं? न्यायवैशेषिक दर्शन से इस विचार का आरंभ करें। यह दर्शन वेदों को इसलिये प्रमाण मानता है कि इनके कर्त्ता साक्षात् परमेश्वर हैं जो इनका उपदेश सृष्टि के प्रारंभकाल में कुछ ऋषियों को कर उनके द्वारा वेद का अन्य ऋषियों और ब्राह्मणों में प्रचार कराते हैं। परमश्वेर की सत्ता सिद्ध करने के एक प्रमाण के रूप में भी वेदों का उपयोग यह दर्शन करता है। वेदों का कर्त्ता कोई मनुष्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा कोई या कुछ लोग होते तो उनकी जानकारी अवश्य होती। वेद 'अस्मर्यमाण कर्त्तृक' हैं जिसके कारण वे अनादि माने जाते और जा सकते हैं। परमेश्वर, जो नित्य सर्वज्ञ है, वही वेदों का कर्त्ता हो सकता है। इस अनुमान के आधार पर भी उक्त दर्शन ने परमेश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस पर से यह बात स्पष्ट होती है कि वेदों का प्रामाण्य और परमेश्वर की सत्ता का सत्यत्व ये परस्परावलंबी तथ्य हैं जिनका अनुमान के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता।

इस अन्योन्याश्रय दोष की उपेक्षा कर भी क्या न्यायवैशेषिक दर्शन ने वेदवचनों के आधार पर किसी दार्शनिक सिद्धान्त को पुरस्कृत किया है?, यह प्रश्न पूछा जाय तो उसका 'नहीं' यही उत्तर देना होगा। वेदोपदिष्ट धर्माधर्म के आचरण-अनाचरण के संबंध में मीमांसा के समान न्यायवैशेषिक दर्शन ने अपना कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया है। परमेश्वर के आदेश के रूप में ही धर्माधर्म के आदेशों को न्यायवैशेषिक स्वीकार करता है। इस बात में कोई दार्शनिक सिद्धान्त समाविष्ट नहीं है।

जो बात न्यायवैशेषिक दर्शन की है वही बात लगभग सांख्य-योग दर्शनों की भी है। इन दर्शनों ने नाममात्र के लिये वेदप्रामाण्य का पुरस्कार किया है लेकिन इनका एक भी दार्शनिक सिद्धान्त वेदवचनों के प्रामाण्य पर आधारित नहीं है। सांख्य दर्शन की सत्व, रज, तमोरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति की अवधारणा का श्वेताश्वतर उपनिषत् की एक उक्ति से संबंध जोड़ा जा सकता है, किन्तु इससे अधिक वेदप्रामाण्य सांख्य पर थोपा नहीं जा सकता।

मीमांसा और वेदान्त ये दो आस्तिक माने गये दर्शन ही बच जाते हैं जो विशेष रूप से वेदप्रमाणक कहे जा सकते हैं, क्योंकि जैमिनि-प्रणीत मीमांसा सूत्रों में वैदिक विधि-निषेध वाक्यों के यथार्थ अर्थों के संबंध में ही प्रमुखता से विचार किया गया है और वेदान्तसूत्रों में चुने हुए उपनिषत् वाक्यों में उपदिष्ट आत्मा-ब्रह्म आदि अनिन्द्रिय सत्ताओं के सम्बन्ध में विचार किया गया है। क्या इतने पर से इन दो दर्शनों को वेदप्रामाण्यवादी मानना तर्कसंगत होगा? बिल्कुल नहीं। विधि-निषेध वाक्यों से शतश: अधिक वेदवाक्य वे हैं जिनमें इतिहास, वैदिककालीन जीवनपद्धति आदि का वर्णन उपलब्ध है, जिस पर वैदिक वाङ्मय के संशोधक अनुसंधान कर रहे हैं। इस वर्णन-सामग्री को मीमांसा ने 'अर्थवाद' अर्थात् प्रशंसा-निन्दापरक मात्र ठहराकर उन्हें वेदों का गौणार्थ मान लिया है। महा मीमांसक कुमारिल भट्ट ने अपने **तंत्रवार्तिक** नामक विशाल ग्रंथ में वर्णनादिपरक वैदिक वाक्यों को तोड़ मरोड़कर विधि-निषेध वाक्यों के साथ प्रशंसा-निन्दा के रूप में जोड़ने का प्रयास किया है। इस पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मीमांसा दर्शन के लिए वैदिक वाङ्मय केवल तदंतर्गत विधि-निषेध वाक्यों में समाया हुआ है, शेष वेद वाक्य उसके लिए वास्तव में कोई महत्त्व नहीं रखते।

मीमांसा के विपरीत वेदान्त उपनिषदंतर्गत वर्णनात्मक तथा उपदेशात्मक वाक्यों को विशेष महत्त्वपूर्ण मानता है। इन वाक्यों के लिए ही ''वेदान्त, याने वेदों का तात्पर्य अथवा निचोड़ बतलाने वाले वाक्य'' यह नामकरण है जो उनके अर्थ का स्पष्टीकरण करने वाले दर्शन को भी लागू किया गया है। वेदान्त वर्णनात्मक वाक्यों को हेय नहीं समझता जैसा मीमांसा समझती है, लेकिन उनको वेदों के तात्पर्यार्थ बतलाने वाले वाक्यों के रूप में भी वह नहीं देखता। विधि-निषेध वाक्यों के संबंध में

भी, मीमांसा के कुछ विपरीत ही, वेदान्त की यही भूमिका है। इसी कारण वेदान्त ने कर्मसंन्यास को कर्माचरण से कहीं अधिक श्रेष्ठ माना है। यह बात वेदान्तदर्शन की अपनी सूझ न होकर वेदाङ्गभूत उपनिषद् वाक्यों से ही उसे प्राप्त हुई है। अत: वेदप्रामाण्य-पुरस्कार-अपुरस्कार के आधार पर आस्तिक-नास्तिक ऐसा भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण अधिक से अधिक स्थूल रूप से ही सही समझा जा सकता है।

दूसरा वर्गीकरण जो पारंपरिक नहीं कहा जा सकता किन्तु भारतीय दर्शनों में स्पष्टतया दिखाई देता है, वह 'शब्द-प्रमाणकता और तर्कप्रमाणकता' इन विशेषताओं पर आधारित है। इस वर्गीकरण को अंग्रेज़ी में थियोलोजीकल, रैश्नल इन शब्दों से व्यक्त किया जा सकता है। मीमांसा और वेदान्त शब्द-प्रमाणक दर्शन प्रतीत होते हैं। इन दर्शनों का अधिकांश चिन्तन वेद-वाक्यों और उपनिषद्-वाक्यों के अर्थों का यथावत् समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करने से ही संबद्ध है। जैसे मीमांसा-सूत्रों में वैदिक कर्मकाण्ड संबंधी विधि-निषेध-वाक्यों का ही विचार किया गया है वैसे ही वेदान्तसूत्रों में उपनिषदंतर्गत उपदेशात्मक तथा कुछ वर्णनात्मक वाक्यों का भी विचार किया गया है। इसी कारण मीमांसा के संबंध में यह उक्ति है कि 'वाक्यार्थ विचार प्रधाना मीमांसा'। मीमांसा ने विधि-निषेधादि वाक्यों का सांगोपांग विचार कर व्यावहारिक सर्वविध वाक्यों के सही सही अर्थ निर्धारित करने के कुछ नियम निष्कृष्ट किये हैं। वेदान्त में भी उपनिषद्-वाक्यों को लेकर वाक्यार्थ विचार ही किया गया है। किन्तु वाक्यार्थ विचार वेदान्त के लिए प्रधान नहीं है। उपनिषदंतर्गत उपदेशवाक्यों के अर्थों के समन्वय के आधार पर आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान के स्वरूप को तथा उसके साधनों को ठीक तरह जानना यह वेदान्त का प्रमुख लक्ष्य है। आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान तर्क या वर्णनात्मक वाक्य मात्र से अधिगम्य नहीं है। इनके संबंध में उपनिषत्कार ऋषियों ने जो आनुभविक बातें कही हैं उनका परस्पर समन्वय कर ही सामान्य मनुष्य आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की कुछ कल्पना कर सकता है। ऋषियों के उपदेशों को एकाग्रता से श्रवण और मनन कर सामान्य साधक परम तत्त्वों का स्वयं भी अनुभव प्राप्त कर सकता है, जैसाकि उपनिषदंतर्गत महावाक्यों के संबंध में कहा गया है। मीमांसा और वेदान्त से अन्य दर्शनों ने सामान्यत: शब्द को प्रमाण माना है लेकिन उनका दार्शनिक चिन्तन शब्द या वाक्य-विचार पर आधारित नहीं है। अधिकतर तर्क की ही सहायता से न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों ने अपने-अपने विभिन्न सिद्धान्त समर्थित करने का प्रयास किया है। कहीं-कहीं इन सिद्धान्तों के पक्ष में वैदिक उक्तियां उद्धृत अवश्य की गयी हैं लेकिन तर्क का समर्थन प्राप्त करने के अनंतर ही इन उक्तियों का उपयोग किया गया दिखलाई पड़ता है। अर्वाचीन पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय चिन्तक भी मीमांसा और वेदान्त की शब्द-प्रमाणावलंबिता तथा अन्य दर्शनों के द्वारा शब्द प्रमाण को महत्त्व दिया जाना, इन बातों को ठीक तरह न समझकर भारतीय दर्शनों की

विचार-पद्धति को अतार्किक करार देते हैं। वास्तविकता ऐसी बिल्कुल नहीं है। क्योंकि यह तर्कमूलक सिद्धान्त ही है कि धर्माधर्म तथा परम सत्य के संबंध में तर्क के द्वारा कुछ भी नहीं जाना जा सकता।

उक्त वर्गीकरण से संबद्ध एक अन्य वर्गीकरण है जिसे 'आभ्युपगमिक या समीक्षात्मक अथवा वैतण्डिक' इन पदों से व्यक्त किया जा सकता है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और अद्वैतेतर प्राय: सभी वेदान्त आभ्युपगमिक वर्ग में समाविष्ट किये जा सकते हैं जबकि अद्वैत वेदान्त, जैन और बौद्ध दर्शन के प्राय: सभी संप्रदाय समीक्षक वर्ग में ही समावेश योग्य हैं। इस वर्ग-भेद का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों की तत्त्वमीमांसा किसी तार्किक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। सामान्यानुभवानुगामी सामान्य शब्द-प्रयोगों से प्रकट होने वाले पदार्थगत साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर ये तत्त्वमीमांसाएं निर्माण की गयी हैं। न्याय-वैशेषिक मतानुसार पदार्थ सात हैं। सांख्यमतानुसार तत्त्व पच्चीस हैं। इन विभिन्नताओं का समर्थन किसी तर्क से नहीं किया जा सकता। इस संबंध में प्रश्न किया जाने पर एक नैयायिक ने उत्तर दिया है कि 'स्वतंत्रेच्छस्य मुने: नियोग पर्यनुयोगानर्हत्वात्।' अर्थात् दर्शनकार ऋषि ने अपनी इच्छानुसार पदार्थ या तत्त्वों की संख्या की कल्पना की है। इसी प्रकार द्रव्य, गुण, जाति इत्यादि के पारस्परिक भेद का भी आधार कल्पना ही मानना उचित होगा, भले ही उसका कुछ न कुछ तार्किक समर्थन प्रस्तुत किया जाय। इस न्यूनता के कारण ही शंकराचार्य, श्रीहर्ष, चित्सुख जैसे अद्वैत वेदान्तियों के लिए न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग आदि की तत्त्वमीमांसाओं पर तार्किक प्रहार करना संभव हुआ। द्रव्य और गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि शेष पदार्थों के आधाराधेय संबंध को लक्ष्य कर शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के तर्कपाद में प्रश्न करते हैं कि द्रव्य पर अपने अस्तित्व के लिए पूर्णतया निर्भर गुणादि पदार्थों को द्रव्य का स्वरूप ही क्यों न मान लिया जाय? क्या सोता-बैठता देवदत्त इन भिन्न-भिन्न स्थितियों में अलग-अलग होता है? द्रव्य पदार्थ की स्वतंत्र आभ्युपगमिक सत्ता का अन्य तर्कों से खंडन कर निर्विशेष सदसद् विलक्षण परब्रह्म रूप परमसत् की तर्क के द्वारा स्थापना शंकराचार्य ने की है। चित्सुखाचार्य तथा श्रीहर्ष ने ऐसी स्थापना करने के हेतु वितण्डा-रूप वाद-पद्धति का अवलंबन किया है। इस वाद-पद्धति को अपनाने वाले को किसी अभ्युपगम के आधार पर अन्य वादियों के मत का समीक्षण करने की आवश्यकता नहीं होती। अन्य मतों की आंतरिक असंगति या पारस्परिक विरोध को उद्घाटित करने मात्र से उनके सदोषत्व को वैतण्डिक वादी प्रकाश में ला सकता है। यही बात श्रीहर्ष ने अपने **खंडनखंड** खाद्य नामक ग्रंथ में कर दिखाई है।

फिर भी श्रीहर्ष पूर्ण वैतण्डिक नहीं हो पाये हैं, क्योंकि उन्होंने सभी व्यावहारिक सत्यों का खंडन कर अंत में परम सत् की अनिर्वचनीय सत्ता का उपनिषत् वाक्यों के आधार पर पुरस्कार कर लिया है। पूर्ण वैतण्डिक तो शून्यवादी माध्यमिक नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्धपालित आदि बौद्ध दार्शनिक हैं जो सत्, असत्, सदसत् और न सत् न असत् इन चार विकल्पों से बहिर्भूत शून्य को ही परमतत्त्व ठहराते हैं (जिसका वर्णन 'अनिरोधं अनुत्पादं अनुच्छेदं अशाश्वतम्। अनेकार्थं अनानार्थं अनागमं अनिर्गमम्। यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम्' इस माध्यमिक कारिका के मङ्गल श्लोक में किया गया है)। शून्यवादियों का कोई स्वीय अभ्युपगम नहीं होता। इसी कारण वे सभी मतों का खंडन निःस्वभाववाद पर आधारित तर्क के द्वारा कर पाते हैं।

सौत्रान्तिक और योगाचार संप्रदाय के बौद्ध दार्शनिक अंशतः समीक्षक माने जा सकते हैं, क्योंकि वे आनुभविक-व्यावहारिक पदार्थों की स्थायी सत्ता का अपलाप कर या तो क्षणभंगुर पदार्थ की या विज्ञान मात्र की सत्ता का पुरस्कार (तर्कों के आधार पर) करते हैं।

समीक्षक दर्शनों में जैन दर्शन का स्थान अद्वैत और माध्यमिक दर्शनों से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। इसका कारण इस दर्शन का स्याद्वादाधारित प्रमाण नय-विभाग है। स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के संबंध में किसी भी संदर्भ में सत्, असत्, सदसत्, न सत्, न असत्, न सत्-अवक्तव्य, न-असत् अवक्तव्य, और न सत् न असत् न अवक्तव्य ऐसे सात प्रकारों से किसी विधेय का विधान किया जा सकता है। इन विधानों पर ही दार्शनिक मतमतांतर, जिन्हें 'नय' यह संज्ञा दी गयी है, आधारित होते हैं। पदार्थों का प्रमाणाधारित या निश्चयात्मक एवं सर्वनयसमावेशक ज्ञान सर्वज्ञता है जो जिन भगवान् को प्राप्त है।

'परिनिष्ठित सद्वादी और अपरिनिष्ठित सद्वादी' यह स्थूल रूप से उक्त वर्गीकरण से संबद्ध एक और वर्गीकरण है जिसकी ओर पारंपरिक दार्शनिकों ने ध्यान नहीं दिया है लेकिन जो अतीव सुस्पष्ट है। न्यायवैशेषिक तथा सांख्ययोग की तत्त्व या पदार्थ-विषयक धारणायें परिनिष्ठितस्वरूप वस्तुओं की है। द्रव्य, गुणादि पदार्थ या प्रकृति, महत्, अहंकार आदि तत्त्व अन्यूनानतिरिक्त रूप से परिभाषार्ह हैं और ये परिभाषित भी हैं। लेकिन अद्वैत तथा सौत्रान्तिक, वैभाषिक तथा शून्यवादी बौद्धमतानुसार, एवं जैनों के अनेकान्तवाद के अनुसार, पदार्थमात्र का स्वरूप अपरिनिष्ठित ही होता है। उसे न पूर्णतया सत् न पूर्णतया असत् ही माना जा सकता है। इन पदार्थों के लिए सही शब्द 'सदसद्विलक्षण' या 'अनिर्वचनीय' यह है जिसका अद्वैत वेदान्त में ही विशेष प्रयोग किया गया है, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार व्यावहारिक विश्व उतना ही सदसद्विलक्षण और अनिर्वचनीय है जितना परमतत्त्व।

व्यवहारत: सत्य होने पर भी परमार्थत: विश्व असत् ही है, ऐसा अद्वैत मानता है। परम सत् असत् नहीं है लेकिन विश्व जैसी उसकी व्यावहारिक सत्ता भी नहीं है।

जैन दर्शन ने वस्तुमात्र के अपरिनिष्ठित स्वरूप को 'अनेकान्त' कहा है, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु या तथ्य के जानने के, और जानने के ही नहीं वास्तविक स्वरूप के भी, अनंत पहलू होते हैं। इन सब पहलुओं को जानना सर्वज्ञ के लिए ही संभव है। एक दृष्टिकोण या नय से जो बात सत्य कही जा सकती है वही अन्य दृष्टिकोण से असत्य भी कही जा सकती है। दूसरे दृष्टिकोण को अपनाया जाय तो पहले दृष्टिकोण वाली बात असत्य लग सकती है। वस्तु मात्र की अनेकान्तता के समर्थनार्थ जैनों ने 'हेरम्ब नरसिंहवत्' यह उपमा प्रस्तुत की है। जैसे गणेश के शरीर में हाथी और मनुष्य इन दोनों का और नरसिंह के देह में नर और सिंह इन दोनों का परस्पराभिन्नता से समावेश है वैसे ही प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तुओं का अंशत: समावेश हुआ करता है।

शून्यवादी बौद्ध वस्तुमात्र को नि:स्वभाव ठहराते हैं, इस कारण किसी भी वस्तु का स्वरूप परिनिष्ठित नहीं हो सकता। यदि किसी पदार्थ में उसका 'स्वभाव', याने अपना ही रूप, होता तो उसके उत्पादनार्थ उससे भिन्न स्वभाव वाले कारणों की अपेक्षा न होती, न ही उसके गुण-धर्म उससे भिन्न होते। भेद और अभेद एक साथ नहीं रह सकते। अब, यदि स्वभाव नहीं है तो परभाव भी नहीं हो सकता। ये तर्क अंतत: सही हों या ग़लत इनके आधार पर शून्यवादी बौद्ध पदार्थमात्र को नि:स्वभाव या अपरिनिष्ठित स्वरूप सिद्ध करते हैं (द्रष्टव्य–'अतो निरभिलाप्याश्च नि:स्वभावाश्च दर्शिता:' कारिका 7)

वैभाषिक बौद्ध भी अपरिनिष्ठित वस्तुवादी ही हैं, क्योंकि वे किसी भी पदार्थ का कोई निर्धार्य स्वरूप नहीं स्वीकार करते। इससे भी आगे जाकर सौत्रान्तिक बौद्ध वस्तुमात्र को निर्धर्मक तथा स्वलक्षण अत: किसी भी स्वान्य गुण धर्मादि से अपरिभाष्य एवं अज्ञेय मानते हैं।

इस वर्गीकरण के संबंध में यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि पदार्थों की अपरिनिष्ठितता ज्ञानमीमांसीय मात्र नहीं है। परिनिष्ठित स्वरूप का पदार्थ भी अपरिनिष्ठित या अस्पष्ट प्रतीत हो सकता है। उक्त अपरिनिष्ठितता ज्ञान-मीमांसीय तो है ही वस्तुमीमांसीय भी है। पदार्थों का स्वीय स्वरूप ही अपरिनिष्ठित या सदसद् विलक्षण है, ऐसा उक्त दार्शनिकों का मंतव्य है।

भाववादी और अभाववादी यह एक वर्गीकरण उक्त वर्गीकरण से बहुत कुछ सादृश्य रखता है। यह वर्गीकरण सभी आस्तिक दर्शनों तथा जैन दर्शन को एक पक्ष में और बौद्ध दर्शनों को दूसरे पक्ष में डालता है। न्याय वैशेषिकादि दर्शन पदार्थों के

किसी न किसी रूप में अस्तित्व का समर्थन करते हैं, भले ही यह रूप परिवर्तमान रहे। बौद्ध दर्शन ठीक इसके विपरीत पदार्थों को निरुपाख्य, अनिर्देश्य या अभावात्मक समझते हैं। इतर व्यावृत्ति या अन्यापोह ही वस्तुमात्र का स्वाभाविक रूप है, ऐसा योगाचार व्यतिरिक्त सभी बौद्धदर्शन संप्रदायों का मत है। भाववादी अस्तित्व को ही वस्तु-स्वभाव मानते हैं। इतर-व्यावृत्ति वस्तुओं के जातीय या वैयक्तिक भावात्मक धर्म के द्वारा होती है। व्यावृत्ति, अपोह या अभाव किसी भाव-पदार्थ का स्वभाव नहीं होता, न हो सकता है। पदार्थों की अभावात्मकता के संप्रत्यय का ही ऐकान्तिक रूप शून्यवाद में दृग्गोचर होता है। इस शून्यवाद का प्रारंभ बौद्ध दर्शनों में बाह्यार्थानुमेयत्ववाद से होकर बाह्यार्थशून्यत्व के ज़रिये सर्वार्थशून्यत्व में परिणत हो जाता है।

आत्मवादी और नैरात्म्यवादी यह एक और महत्त्वपूर्ण परंपरागत वर्गीकरण है जिसके दूसरे पक्ष में बौद्ध दर्शन ही समाविष्ट हैं। बौद्ध के अतिरिक्त किसी भी भारतीय दर्शन ने आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया है। यहां 'आत्मा' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। प्राणिमात्र के अंतरंग में स्पष्ट या अस्पष्ट शब्दों से या क्रियाओं से व्यक्त होने वाली अस्मितानुभूति का आधार आत्मसत्ता को आत्मवादी दार्शनिक मानते हैं। यह आत्मा अनादि, अनंत और अनेक शरीर-संचारी समझी जाती है। बौद्ध दर्शन के द्वारा निरस्त आत्म-धारणा इस आत्म-धारणा से कहीं अधिक व्यापक है। चेतन, जड़ आदि सभी पदार्थ स्थल-काल में विद्यमान होने से और 'इदमित्थम्' इस प्रकार के प्रत्यक्ष के योग्य होने से आत्मवान् कहे जा सकते हैं। 'नैरात्म्यवाद पदार्थमात्र की सामान्य आत्मसत्ता का निषेध करता है। यदि प्रतिक्षण ये तथाकथित पदार्थ पूर्णतया नष्ट होकर अन्य सदृश या विसदृश पदार्थों को जन्म दें और वे भी इसी प्रकार उत्पत्ति के अग्रिम क्षण ही नष्ट होकर अन्य सदृश या विसदृश पदार्थों को जन्म दें तो आत्मा की स्थायिता पूर्णतया समाप्त हो जाती है। काल के समान स्थल में भी पदार्थों का स्थायित्व नैरात्म्यवाद को अस्वीकार्य है। सभी पदार्थ अणु-संघातरूप होने से और संघात-घटक प्रत्येक अणु दूसरे अणुओं से पूर्णतया भिन्न होने से स्थलीय स्थायिता या व्यापकता भी किसी पदार्थ में नहीं हो सकती। इस प्रकार भीतर-बाहर किसी पदार्थ में स्थायिता का अंशमात्र भी नहीं होता। यह पदार्थों के सत्तामीमांसीय विश्लेषण की परिसीमा है जिसका नैरात्म्यवाद ने पुरस्कार किया है।

अणु ही यदि परम सत्य हों और वे शुद्ध स्वलक्षण अत: परस्पर भिन्न तथा परस्पर असंबद्ध हों तो उनका संघात कैसे हो पाता है (जो सामान्यानुभव में एक स्थिर वस्तु के रूप में दृग्गोचर होता है) ऐसा यहां प्रश्न किया जा सकता है। इसके उत्तर में नैरात्म्यवादी कहते हैं कि 'प्राणिमात्र की, विशेषत: मनुष्य की जो 'सत्कायदृष्टि' है वही उस अणु-पुञ्ज या अणु-संतान को एक स्थिर गुणादियुक्त वस्तु के रूप में

देखने-समझने के लिए प्रवृत्त करती है। जैसे प्रतिक्षण परिवर्तमान भावनायें आत्मसत्ता की स्वाभाविक धारणा की आधार हैं वैसे ही सतत परिवर्तनशील संवेद ही वस्तु मात्र की स्थायिता या सशरीरता-दृष्टि के आधार हैं। न भीतर न बाहर कोई आत्म रूप स्थायी तत्त्व है। आत्मवादी सभी दर्शन आंतरिक तत्त्व को पूर्ण स्थायी या अनाद्यनंत मानते हैं लेकिन बाह्य वस्तुगत या वस्त्वाधारभूत द्रव्यरूप तत्त्व को कम-अधिक स्थायी और विनाशशील समझते हैं। इस विषमता का कारण आनुभविक है। बाह्य वस्तुओं में गुण-धर्मकृत परिवर्तन प्रत्यक्षगोचर है लेकिन आन्तरिक वृत्तियां सतत-परिवर्तनशील होने पर भी अस्मितानुभूति एक सी बनी रहती है। जैसा शंकर एक प्रसंग में कहते हैं 'न हि जातु कश्चित् सन्दिहते अहं वा नाहं वेति।' कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रसंग में अपनी वैयक्तिक सत्ता के विषय में सन्देहाकुल नहीं होता। यह बात अवश्य है कि भिन्न अवस्थाओं में अनुभवविषय होने वाली आत्मसत्ता बिल्कुल एक-जैसी नहीं प्रतीत होती। और सुषुप्ति जैसी अवस्था में तो आत्मसत्ता की अनुभूति लुप्त हुई सी लगती है। ऐसे अनुभव-विपर्यास का कारण–जैसा वेदान्त ने सुषुप्ति के विश्लेषण के आधार पर कहा है–आत्मसत्ता की सदसद् विलक्षणता है–जो अस्पष्ट रूप से ही सामान्य चेतनावस्था में प्रकट होती है। यही कारण है कि कभी अपने शरीर को तो कभी शरीर से परे मन या उससे भी परे किसी सत्ता को लक्ष्य कर 'मैं' शब्द का प्रयोग सामान्य व्यक्ति भी करता है।

सापेक्ष सद्वादी और कूटस्थ सद्वादी(एम्पिरिकल रीयलिस्ट एंड एब्सोल्यूटिस्ट) यह पाश्चात्य दर्शनों में किया जाने वाला वर्गीकरण भारतीय दर्शनों पर भी लागू किया जा सकता है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा ये दर्शन परस्पर सापेक्ष एवं परस्पर भिन्न पदार्थों–द्रव्य, गुणादि तथा प्रकृति, महदादि–का ही अपनी तत्त्वमीमांसा में पुरस्कार करते हैं। पूर्णतया निरपेक्ष तथा सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद-रहित निरपेक्ष सत् की धारणा के लिए इन दर्शनों में कोई स्थान नहीं है। परस्पर सापेक्षता को कूटस्थ सद्वादी असत्यता या आभासात्मकता का ही कारण ठहराते हैं। जैसे द्रव्य-गुण तथा द्रव्य-जाति ये एक-दूसरे से भिन्न होते हुए एक-दूसरे से अनिवार्यत: संबद्ध नहीं हो सकते। इनका संबंध न आंतरिक हो सकता है न बाह्य। यदि वह आंतरिक है तो द्रव्य और उसके गुण कभी एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते और नित्य मानी जाने वाली जाति के समान जातियुक्त द्रव्य भी नित्य होगा। इस संबंध को बाह्य माना जाय तो कभी द्रव्य-गुण और द्रव्य-जाति परस्पर विच्छिन्न हो जा सकते हैं। संबंध-संप्रत्यय की इस अनुपपत्ति को लक्ष्य कर ही शंकर ने स्व-पर-भेद-रहित ब्राह्मरूप परम सत्य की अनिर्वचनीय सत्ता का पुरस्कार किया है। शंकर के विपरीत रामानुज ने चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म या ईश्वर को परमसत्य के

रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि उनके मतानुसार ईश्वर और उसके चिदचिद् रूप विशेषण ये दोनों और उनके संबंध भी नित्य हैं।

पाश्चात्य दर्शनों में यथार्थवाद और विज्ञानवाद अनेक प्रकार से विभिन्न दार्शनिकों ने प्रस्तुत किये हैं। जैसे सामान्यानुभववाद (जो 'एम्पिरिसिज़्म' इस सामान्य संज्ञा से निर्देशित किया जाता है) असमीक्षित यथार्थवाद (जो 'नाइव रियलिज़्म' कहा जाता है) समीक्षित यथार्थवाद (इसे 'क्रिटिकल रियलिज़्म' नाम से पहचाना जाता है) तार्किक भाववाद (यह लोजिकल पोज़िटिविज़्म इस नाम से जाना जाता है) ये सब पश्चिमी यथार्थवाद की विधायें हैं। विज्ञानवाद की भी अनेक विधायें पश्चिमी दर्शनों में विकसित की गयी हैं। जैसे कांट, हेगल, शोपेनहावर, ब्लान्हार्ड, व्हाइटहेड आदि अर्वाचीन दार्शनिकों के द्वारा उपस्थापित किये गये और भिन्न-भिन्न पूर्वाभ्युगमों पर आधारित विज्ञानवाद ये पश्चिमी विज्ञानवाद की प्रमुख अर्वाचीन विधायें हैं। भारतीय दर्शनों में यथार्थवाद की विधायें अनेक हैं किन्तु उनमें विज्ञानवाद एक ही प्रकार का प्रचलित है। गहराई से देखा जाय तो बौद्ध विज्ञानवाद को छोड़कर शेष सब भारतीय दर्शन यथार्थवादी ही हैं। यथार्थवाद का सामान्य लक्षण यदि 'ज्ञान और उसके विषयों को एक दूसरे से भिन्न मानना तथा इन विषयों को भी एक-दूसरे से भिन्न समझना' माना जाय तो न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा-वेदान्त (सभी संप्रदायों के साथ) एवं जैन ये सब दर्शन यथार्थवादी ही कहलाने योग्य होंगे। अद्वैत वेदान्त के संबंध में संदेह हो सकता है कि वह शायद यथार्थवादी न होकर विज्ञानवादी ही है। इस संदेह का कारण यह है कि अद्वैत विश्व मात्र को और सब प्रकार के भेदों या द्वैत को मिथ्या मानता है और एकमात्र परम-सत्य को चिद्रूप या विज्ञानरूप कहता है। यह बात सही है कि अद्वैत द्वैत का निषेध करता है लेकिन यह बात भी सही है कि अद्वैत द्वैत या द्वैतमय विश्व को प्रातिभासिक या 'तुच्छ' (शशशृंग के समान असंभव) न मानकर उसकी व्यावहारिक (याने सामान्यानुभविक) सत्यता का पुरस्कार करता है। ज्ञान और उसका विषय इनके भेद को भी वह व्यावहारिक रूप से सत्य ही समझता है। वेदान्तियों की यह मान्यता 'व्यवहारे भाट्टनयः' इस परंपरागत उक्ति से प्रसिद्ध है। यद्यपि ज्ञानमीमांसा संबंधी कुछ बातों (जैसे ज्ञान की अनुमेयता, क्रियारूपता आदि) के संबंध में अद्वैत वेदान्त और भाट्ट मीमांसा इनमें मतभेद है तो भी अधिकांश भाट्ट सम्मत यथार्थवादी विचार अद्वैत को मान्य ही हैं।

भारतीय दर्शनों में विज्ञानवाद का उद्भावन केवल योगाचार संप्रदाय के बौद्धों ने किया। यद्यपि विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त के समर्थनपरक अनेक तर्क असंग तथा वसुबंधु इन बौद्ध विज्ञानवादियों ने प्रस्तुत किये हैं तो भी यह कहा जा सकता है कि बौद्धों की यह अगतिकता थी कि उन्हें विज्ञानवाद अपनाना पड़ा। वस्तुमात्र की क्षणभंगुरता का सिद्धान्त स्वीकार कर चुकने के बाद वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान का उपपादन सही ढंग से

करना सौत्रान्तिक संप्रदाय के बौद्धों के लिए अति कठिन हो गया, क्योंकि क्षणिक वस्तु और उसका क्षणिक ज्ञान एक साथ घटित नहीं हो सकते। एक के बाद एक भी वे नहीं घटित हो सकते, क्योंकि ज्ञान के सम्मुख ज्ञान का विषय नहीं रह सकता। विषय की उपस्थिति के अनंतर ही उसका ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। एतदर्थ सौत्रान्तिकों को यह मानना पड़ा कि विषय अपनी उत्पत्ति के अनंतर ही उत्पन्न हुए अपने ज्ञान को अपना आकार अर्पित करता है, अर्थात् विषय-विनाश के क्षण में ही उत्पन्न उसका ज्ञान उसके आकार को ग्रहण करते हुए उत्पन्न हुआ करता है। इस बात पर से सौत्रान्तिकों को बाह्यानुमेयत्व सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ा। लेकिन यदि विषय किसी भी परिस्थिति में प्रत्यक्षगम्य न हो तो उसकी सत्ता स्वीकार करने में क्या तुक है? सीधे विज्ञान को ही एकमात्र सत्य मानना ही तर्कसंगत होगा।

13, दि एन्क्लेव
गार्डंस, मैनूकॉ
ऑकलैंड (न्यूजीलैंड)

शल्यजी का काव्यचिन्तन : एक पुनः प्रतिक्रिया

इंडयन काउंसिल ऑफ फिलासफिकल रिसर्च की पत्रिका के अंक २१/३ (जुलाई-सितम्बर, २००४) में प्रो. दयाकृष्ण का लेख 'Rasa the Bane of Indian Aesthics ' शीर्षक लेख छप कर आया है। प्रो. दयाकृष्ण रससिद्धान्त और उससे अनुषक्त सम्पूर्ण विमर्श का विखंडन करते हुए उसे भारतीय कला-चिन्तन के लिए सर्वनाशकारक या हलाहल के समान घातक मानते हैं। उनके अनुसार अब यह आवश्यक हो गया है कि इस सिद्धान्त में यदि कुछ ग्राह्य है तो उसे ले लिया जाय, बाकी सब त्याग कर इसके विकल्प में कोई नया सिद्धान्त निर्मित किया जाय। उन्होंने स्वयं ऐसा कोई विकल्प प्रस्तावित नहीं किया है।

शल्य जी के दो लेख इसी बीच मेरे पढ़ने में आये–'काव्यलक्षण' तथा 'काव्यविषयक सौन्दर्य और साधारणीकरण की अवधारणाओं की समीक्षा'। शल्य जी भी रसविषयक प्राचीन विमर्श से पूरी तरह सहमत नहीं हैं, पर वे दया जी के वैकल्पिक प्रस्थान के निर्माण वाले सुझाव को स्वत: चरितार्थ करते हुए अपना विमर्श प्रस्तुत करते हैं।

दया जी और शल्य जी दोनों यह मानते हुए अपनी बात कह रहे हैं कि भारतीय काव्यविमर्श और कलादृष्टि में रस-प्रस्थान ही मुख्य प्रस्थान है, यदि अन्य कोई प्रस्थान रहे भी हैं तो वे रस-ध्वनिवाद में या तो गतार्थ हो गये या स्वतन्त्र रूप में उनकी काव्यचिन्तन में चरितार्थता नहीं रही। वास्तव में दयाजी और शल्यजी दोनों ने इस परम्परा में रस के समानान्तर जो वैकल्पिक दृष्टियाँ सक्रिय रही हैं उन्हें अनदेखा किया है। ये वैकल्पिक दृष्टियाँ अलंकार-प्रस्थान में आरम्भ से थीं व निरन्तर सक्रिय रहीं। दयाजी व शल्यजी दोनों की दृष्टि अलंकार के बारे में नितान्त भ्रान्त है। ये दोनों अलंकार को केवल कविता या कला के शिल्प तक ही सीमित कर देखते हैं। परम्परा में अलंकार का विवेचन काव्य या साहित्य में रूप, वस्तु तथा इनकी प्रतीति–तीनों पक्षों को उसकी मूलभूत अवधारणा में समाहित कर के ही किया जाता रहा है। अलंकार का यह मूल परिप्रेक्ष्य ऋग्वेद से लगा कर भामह, दण्डी, वामन, उद्भट तथा रेवाप्रसाद द्विवेदी की **काव्यालंकारकारिका** और मेरे द्वारा रचित **अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्** में देखा जा सकता है। अलंकार-विवेचन की परम्परा, उस से जुड़ी अवधारणा और उसका ऐतिहासिक क्रमविकास रसविवेचन की परम्परा से कहीं अधिक विस्तीर्ण और सुदीर्घतर अवधि में विस्तृत है, संस्कृत काव्यों की टीकापरम्पराओं में वह सजीव होकर विन्यस्त होता आया है, आज के साहित्यविवेचन

में उसकी व्यापक विवृति बिसरा दी गई हो तो यह आज के विवेचकों और साहित्यकारों की हतभाग्यता और विडम्बना है, संस्कृत काव्यशास्त्र की नहीं।

अलंकार सम्पूर्ण सौन्दर्य का पर्याय है। उसके बारे में यह मानना कि वह 'भाव और अर्थ की क्षीणता का द्योतक' है, किसी भी तरह उचित नहीं है। आचार्यों की दृष्टि में वस्तुस्थिति इससे ठीक उलटी है। जो भाव और अर्थ की क्षीणता का द्योतक हो जाए, वह तो अलंकार ही नहीं है।

आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक इस त्रिविध विश्व के उन्मीलन के साथ भूषण, वारण और पर्याप्ति की प्रक्रियाओं का काव्य में आधान अलंकार है–यह लक्षण अलंकार का मैंने किया है। इसके पूर्व इस तरह की पदावली में ऐसा लक्षण किसी ने नहीं किया। पर यह मेरा मौलिक लक्षण है ऐसा मुझे नहीं लगा।

संस्कृत काव्यशास्त्र का पाँच-छह सम्प्रदायों में विभाजन और उनमें रस-ध्वनिप्रस्थान को अन्ततः सर्वविजयी मानना यह पश्चिम के अध्येताओं ने संस्कृत काव्यशास्त्र की जो भ्रान्त व आधिपत्यवादी व्याख्या की थी, उसके मिथ्यात्व से निकल कर आया हुआ विचार है। इसे काव्यशास्त्र की परम्परा के प्रामाणिक अध्ययनों के द्वारा निरस्त भी किया जा चुका है। 'वाणी मेरी तुझे चाहिये क्या अलंकार' या 'ये उपमान मैले हो गये हैं'–जैसी सस्ती छिछोरी भावुकतापूर्ण उक्तियों को, जिनमें काव्यशास्त्र की कोई समझ नहीं थी, छोड़ कर अलंकार के सही परिप्रेक्ष्य को समझा जाना चाहिये।

अतएव इस पृष्ठभूमि में 'काव्य-लक्षण' शीर्षक लेख में शल्य जी का यह कथन विचारणीय है–'हमारी परम्परा में काव्य का अवच्छेदक लक्षण रस को कहा गया है।' काव्य के जितने स्वीकृत लक्षण हैं उनमें विश्वनाथ कविराज और एक सीमा तक पण्डितराज जगन्नाथ के दो-एक काव्यलक्षणों को छोड़ दें तो सर्वस्वीकृत काव्यलक्षणों में रस को काव्य का अवच्छेदक मान लिया गया हो ऐसा नहीं लगता। सर्वस्वीकृत लक्षण तो भामह से प्रवर्तित होता है। 'शब्दार्थौसहितौ काव्यम्' की व्याख्या में भामह शब्द और अर्थ दोनों के सौन्दर्य की बराबरी कविता में होती है इसी बात पर बल देते हैं।

काव्य लक्षण शीर्षक लेख में शल्य जी ने मेरे द्वारा लिखित उनकी पुस्तक **काव्यविमर्श** की समीक्षा का हवाला दिया है, जिसमें यह कहा गया था कि भिन्न पदावली में आचार्यों की बात शल्यजी के द्वारा प्रस्तुत की गई है। शल्य जी आचार्यों की बात को अन्य शब्दों में जानबूझ कर या सायास कह रहे हैं–ऐसा मेरा आशय नहीं था। उनका यह कहना भी सही हो सकता है कि वे संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों की बात को अपने शब्दों में कहने का प्रयास क्यों करेंगे, जबकि उनके पास उनकी

अपनी बात कहने को है, और आचार्यों की बात को अपने शब्दों में कहने में न केवल अतिरिक्त आयास होगा, पुनरुक्ति भी होगी। पर काव्यशास्त्र की परम्परा का जितना अवबोध मुझे है, उसमें यह प्राय: हुआ है कि जिन आचार्यों ने यह कहा कि हम अपनी तो कोई बात कह ही नहीं रहे हैं, हम तो भरत मुनि की बात ही दुहरा रहे हैं, वे प्राय: भरत मुनि से अलग हटकर अपनी बहुत कुछ कह रहे होते हैं, और जिन्होंने यह कहा कि हम तो अपनी ही बात कह रहे हैं, वे अनजाने में पहले के आचार्यों की बात को अपने ढंग से कह रहे होते हैं। विचार-परम्परा में यह प्राय: होता है कि जिन तथ्यों, तत्त्वों का उद्घाटन पहले के विचारक कर जाते हैं उन्हें इन पूर्व के विचारकों का अध्ययन किये बिना भी, अपनी पदावली में प्रकारान्तर से अपनी शैली में ये विचारक कहते हैं। स्वात्मानुभव से भी मैं ऐसा कहता हूँ। मेरे साथ अनेक बार यह हुआ है कि अज्ञानवश जिन बातों को मैं अपने द्वारा ही परिकल्पित और उत्थापित समझता था, बाद में मैंने पाया कि ये मुझ से पहले के आचार्य कह चुके हैं, उनकी पदावली किंचित् भिन्न हो सकती है। मेरा आशय यह था कि संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में रस और काव्यानुभव को लेकर कई दृष्टियों से विचार हुआ है। रस और काव्यानुभव को लेकर अनेक वैकल्पिक दृष्टियाँ तीन हज़ार वर्ष के भारतीय काव्यचिन्तन में सामने आती हैं। सम्भव है कि आचार्यों ने उन पक्षों को भी समाहित किया हो जिन्हें शल्य जी ने स्थापित किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र अनेक वैकल्पिक दृष्टियां उन्मीलित करता रहा है। ऐसे में शल्यजी का यह मानना कि उन्होंने काव्य का जो स्वरूप निर्धारित किया है उसके पीछे उसकी मौलिक दृष्टि है, वह दृष्टि संस्कृत काव्यशास्त्र में नहीं थी, काव्यशास्त्र के अधीती जनों के लिए विचार्य हो सकता है।

शल्यजी के अनुसार काव्य या कलाओं का अवच्छेदक लक्षण विषयिता का विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन है। विषयिता विषय के प्रतिपक्ष के रूप में चेतना का पक्ष है। आशय यही हुआ कि कविता में चित्रित प्रेम विषय न रहकर विषयिता हो जाता है। शल्य जी ही यह कह रहे हैं–'भाव रूप में यह (प्रेम) विषयिता है जो व्यक्तिचित्त में वृत्ति रूप से घटित होता है।' यह 'विषयिता प्रत्ययरूपेण कल्पनागम्य' होती है। काव्य का विषय पाठक या नाटक के प्रेक्षक की चेतना का अंग बन जाता है। अभिनवगुप्त और भट्टनायक में भी काव्य या कला के विषय विषयी के रूप में गृहीत होते हैं। शल्यजी भी मानते हैं कि 'विषयता विषयिता के साक्षात्कार में बाधक ही हो सकती है, उसके प्रति हमारे स्वार्थों, पूर्वाग्रहों, मैत्री या द्वेष के कारण, किन्तु कथा के पात्र की विषयिता अर्थग्राही दृष्टि द्वारा रचित होने से अव्यवहित प्रत्यक्षगम्य होती है।

शल्यजी के विवेचन में यह विषयिता-प्रत्यय चित्तवृत्ति है। तब पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा निरूपित रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरण चित् ही रस है अथवा भग्नावरण

चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायी रस है–इस व्याख्या में और शल्यजी की व्याख्या में अन्तर नहीं रह जाता। यह कहने से समाधान नहीं किया जा सकता कि विषयिता का विषयिता-प्रत्यय रसानुभूति नहीं है,तथा इसे 'आवेग-रेचन या सौन्दर्यानुभूति से जोड़ कर देखना भी सम्भव नहीं लगता।' केवल अभिनवगुप्त आदि के पक्ष पर विचार कर के विषयिता का विषयिता-प्रत्यय रसानुभूति नहीं है–यह मान लेना उचित नहीं लगता। रस को ले कर अभिनव के पूर्व और पश्चात् विभिन्न दृष्टियों से विमर्श हुआ। उसे सुख-दु:खमिश्रित लौकिक अनुभव भी कहा गया। उसमें साक्षिभास्यता की बात उठाई गई। साक्षी चैतन्य है, उसमें भासित विषय साक्षिभास्य होकर विषयिता प्रत्यय में ही परिणत होते हैं, यह तो पंडितराज स्पष्ट कहते ही हैं। इस तरह पण्डितराज के विवेचन में शल्यजी का पक्ष भी गृहीत हो जाता है। विषयिता का विषयिता–प्रत्यय के रूप में अवगमन में जो विषयिवृत्ति निर्मित होती है, उसमें होने वाले प्रत्यय शब्दाभिधेय नहीं रह जाते–यह बात तो आचार्यों ने अनेकत्र कही ही है।

रस और उससे जुड़ी पदावली से आज के विचारक परहेज रख कर बात कर रहे हैं। पुराने आचार्यों ने कलानुभूति के पर्याय के रूप में रस शब्द का त्याग नहीं किया, पर अवधारणाएँ उसमें बराबर भिन्न जोड़ते रहे। रस रति के लिए भी होता है और विरति के लिए भी। अश्वघोष से चली आ रही काव्यानुभव की अवधारणा और शान्त तथा बीभत्स जैसे रसों के विचार में यह स्पष्ट है।

शल्यजी ने पारम्परिक रस-विचार से विषयिता प्रत्यय को भिन्न स्थापित करने के लिए कहा है कि उसका विषय केवल भावनाएँ और आवेग ही नहीं होते। रस में भी केवल भावनाएँ और आवेग ही विषय नहीं होते। जिसे विरति या अरस कहा जाता है, काव्य में वह भी अन्तत: रस ही है। पर आनन्दानुभूति से गद्‌गदायमान करने वाले रस का स्वरूप इस विरति में पर्यवसित होने वाले रस से भिन्न तो मानना ही होगा।

शल्यजी ने विषयिता का विश्लेषण बड़ा सूक्ष्म किया है। अन्य के लिए अपने को विषय बना कर देखना, यह भी एक विषयिता प्रत्यय है। कलाएँ भी एक विशिष्ट विषयिता प्रत्यय देती हैं। विषयी विषयता की सापेक्षता में ही प्रत्यक् हो सकता है–जब वे यह कहते हैं तो पण्डितराज द्वारा उपस्थापित रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरण चिदेव रस: की एक व्याख्या ही वह है। शल्य जी चेतना के दो पक्ष मान लेते हैं - विषयभूत आत्म और विषयीभूत आत्म। व्यक्तिविषयिताएँ ही काव्यविषय बन जाती हैं। विषय विशिष्ट हो कर भी विषयी या अहं के अवयव के रूप में साक्षात्कृत हो जाते हैं। शल्य जी मानते हैं कि रागमुक्त विषयिता भी हो सकती है और रागयुक्त भी। इसी तरह कवि जब लिखता है तो 'विषय में विषयिता का आरोप कर इसमें सहगामी होकर भी लिख सकता है। किन्तु यह आरोप अध्यास रूप नहीं होता, वह ईश्वरीय चैतन्य के अनुरूप स्वतन्त्र सर्जन होता है–जगन्माया को रच कर उसमें प्रवेश जैसा। रागयुक्त चैतन्य और रागमुक्त चैतन्य दोनों की बात भी प्राचीन आचार्यों

के कलानुभूति के विवेचन में आई है, बीभत्स रस क्षोभ और उद्वेग उत्पन्न कर रागमुक्त चैतन्य में प्रमाता को प्रतिष्ठित करता है।

'विषयिता का विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन' इस तरह की शब्दावली में काव्यबोध का ऐसा लक्षण संस्कृत काव्यशास्त्र में किसी आचार्य ने नहीं किया और ऐसा करने की वहां किसी आचार्य को ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि 'विषयिता का विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन' कहने से काव्य की मीमांसा के लिए सब उपकरण प्राप्त नहीं होते, जो रस:भाव को केन्द्र में रखकर परम्परा सुलभ कराती रही है। कालिदास की कविता पढ़कर भी 'विषयिता का विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन' हो जाता है, गोविन्दचन्द्र पांडेजी की कविता पढ़ कर भी 'विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन' हो जाता है। किसी और की कविता पढ़ कर भी यह हो जाता है। इसके आगे किसी कवि की कविता के बारे में और क्या कहा जाए, यह इस लक्षण से सामने नहीं आता।

धनंजय ने अपने दशरूपक में काव्य-बोध की चार दशाएँ मानी हैं–विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। उन्होंने इन चारों को क्रमश: श्रृंगार, वीर,बीभत्स और रौद्र इन चार रसों से सम्बद्ध माना है। इसके साथ ही हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण–ये चार रस भी इन चार मन:स्थितियों या चित्तवृत्तियों से सम्बन्धित होते हैं। वीर के चार भेद है—दयावीर, दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। बीभत्स संसार में जो कुछ भी अमांगलिक, उद्वेगकारक और अशुभ है उसको समाहित करता है। बीभत्स को भरतमुनि ने चार मूलभूत रसों में एक माना है।

विषय-प्रत्यय की प्रक्रिया स्पष्ट है, विषय-प्रत्यय शब्दाभिधेय है। विषयिता-प्रत्यय शब्दों से अभिधेय नहीं होते। शल्यजी व्यंजना स्वीकार करते हैं। पर वाच्य-विरहित हो कर क्या विषयिता-प्रत्यय हो सकता है? विषय-प्रत्यय वाच्य है, और विषयिता-प्रत्यय अनभिधेय तथा व्यंग्य है। मैं दु:खी हूँ इस प्रकार का वर्णन कोई कर सकता है। यह विषय-प्रत्यय है। कबीर जब कहते हैं कि 'माया महाठगिनि हम जानी' तो उन्हें माया का विषयिता प्रत्यय हो रहा है। विषयिता प्रत्यय हो गया तो शब्दों से कहने की ज़रूरत क्या? कबीर को विषयिता-प्रत्यय हुआ उसे वे कह तो शब्द और अभिधा में वाच्य में ही कह रहे हैं। अत: विषयिता-प्रत्यय को अभिधा और शब्द से तोड़ कर कैसे देख सकते हैं?

एक स्थल पर शल्यजी ने अभिनवगुप्त की भूल प्रदर्शित की है। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्–इसका अनुवाद शल्यजी ने किया है—काव्यबोध कवि और सहृदयों की अनादि वासनाओं की समानता : साधारण्य : में रहता है। यहाँ संवाद का अर्थ साधारण्य लेना उचित नहीं लगता। शल्य जी ने यह मान लिया है कि अभिनवगुप्त के अनुसार ये अनादिवासनाएँ एकरूप हुआ करती हैं। ऐसा अभिनवगुप्त ने नहीं कहा है। शल्य जी ने यह भी मान लिया है कि अभिनवगुप्त

के अनुसार वासनाएँ या उपाधियाँ वस्तुदर्शन में विघ्नकारक होती हैं। यह भी अभिनवगुप्त ने नहीं कहा है। उन्होंने भावों की निर्विघ्नप्रतीति की बात अवश्य कही है और विघ्न के स्वरूप पर विशद विचार भी किया है। सात प्रकार के जो विघ्न अभिनव ने बतलाए हैं वे सब हृदय की अनादिवासना से जनित होते हों ऐसा नहीं है।

भावों की विषयिता-प्रत्यय रूप में उपलब्धि या विषयिता का विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन ही शल्यजी की दृष्टि में काव्यबोध है। 'कला की प्रतिष्ठा भावना और उसकी अभिव्यक्ति के बीच की दीवार में कहीं होती है – स्वयं भावना में नहीं।' अभिनवगुप्त ने काव्यबोध की व्याख्या करते हुए बोधारम्भ, बोधमध्य और बोधाग्र ये तीन स्थितियाँ मानी हैं। इनमें शल्यजी के द्वारा निरूपित मध्यवर्ती क्षेत्र बोधमध्य में विश्रान्त हो जाता है।

पर जैसा मैंने ऊपर कहा अलंकारप्रस्थान की परिधि रसविमर्ष से कहीं ज़्यादा व्यापक है। शल्य जी का विमर्श अलंकार-विचार में गतार्थ हो जाता है, वह भी केवल भाविक अलंकार के विचार में। यह कथन हास्यास्पद लग सकता है, विशेषत: उन लोगों को जिन्होंने प्राचीन आचार्यों को थोड़ा ही पढ़ा है, या जिनका संस्कृत काव्यशास्त्र से दोयम दर्जे के स्रोतों के ज़रिये यत्किंचित् परिचय है। अलंकार को कविता के कलापक्ष मात्र से जोड़ कर भी ऐसे ही लोग देखते आ रहे हैं। रुय्यक **अलंकारसर्वस्व** में कहते हैं कि अतीत और अनागत, भूत और भावी का अलौकिक रूप में शब्द से समर्पित हो चुकने के बाद चेतना में प्रत्यक्षायमाण हो जाना भाविक अलंकार है। इस प्रसंग में अलंकारवादी आचार्यों ने भावना शब्द का प्रयोग किया है, जो शल्य जी भी करते हैं। आचार्य कहते हैं कि भाविक अलंकार में जो प्रत्यक्षायमाणता होती है, वह भावनास्वभावा हुआ करती है।

प्रतापरुद्रीयकार कहते हैं कि कवि की अद्भुत वर्णन कला क कारण भावक के चित्त में भावना उदित हो जाती है। जैसे विरही के चित्त में कामिनी की भावना होती है, उसी तरह कविगत आशय प्रतिबिम्बित हो कर भाव या भावना के रूप में चित्त में निवेशत हो जाता है।

''न च भूतभाविनो: प्रत्यक्षवद् भासो निरुद्ध:। अत्यद्भुतवस्तुवर्णनया भाविकानां हृदि भावनोदयात् तथा च भावनया पुनश्चेतसि निदर्शनात् प्रत्यक्षायमाणत्वं घटत एव। कामिनीभावनया तस्या: प्रत्यक्षायमाणत्वात्। कविगतो भाव: आशय: श्रोतरि प्रतबिम्बत्वेनास्तीति भावो भावना वा पुन: पुन: चेतसि निवेशनं सोऽत्रास्तीति।''

विद्यानाथ, **प्रतीपरुद्रीयम्**, पृ. ५६०

रुय्यक ने कहा है कि भाविक में केवल कवि अतीत और अनागत को प्रत्यक्ष हस्तामलकवत् देखे इतना ही नहीं, उसका पाठक या दर्शक भी उसी तरह अतीत और अनागत को प्रतिबिम्ब की तरह साफ देखता है। भाविक अलंकार भाव के होने पर होता है। भाव का आशय यहाँ रसवाद में जो भाव है उससे नहीं लिया जाना चाहिए।

भाव का अर्थ यहाँ साक्षात्कार है, जिसे शल्य जी ने विषयिताप्रतीति कहा है। कुवलयानंद कारिका की व्याख्या में आशाधर भट्ट कहते हैं–भावाय साक्षात्काराय प्रभवतीति भाविकम्।

रुय्यक भाविक को लेकर एक उल्लेख्य विचार प्रस्तुत करते हैं। यह सत्य है कि अतीत और अनागत का प्रत्यक्षायमाण होना भाविक है। पर इस प्रत्यक्षायमाणता में कविगत भाव या आशय श्रोता या भावक में प्रतिबिम्बित होते हैं, यह भावक इन आशयों में पुन: पुन: अभिनिविष्ट हो जाता है। इस तरह भाविक अलंकार से होने वाला अनुभव समग्र काव्यानुभव या सौन्दर्यानुभव हो जाता है, क्योंकि न तो यह भ्रांति मात्र है, न वस्तुवृत्तप्रकाशनमात्र। इस अनुभूति में भावक अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष करता है। यह प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष और योगियों के द्वारा किये जाने वाले अतीन्द्रिय साक्षात्कार – दोनों से भिन्न होता है। जिस तरह लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण है, और जिस तरह योगियों के द्वारा किया जाने वाला समाधिगत साक्षात्कार भी प्रमाण है, उसी तरह भावक के द्वारा किये जाने वाले इस साक्षात्कार को भी प्रमाण माना जाना चाहिये।

अलंकारवादियों ने रस को भी एक अलंकार (रसवदलंकार) माना है। इस रसवदलंकार में उन्होंने रस के विचार को समाहित कर लिया है। पर भाविक में भाव होते हुए भी वे उसे रसवदलंकार से अलग मानते हैं। भाविक और रसवदलंकार में अंतर यही है कि रसवदलंकार में हृदयसंवाद होता है, भाविक में कविगत अभिप्राय का सहृदय के हृदय में प्रवेश होता है, संवाद या तादात्म्य नहीं। इसी प्रकार भाविक में वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्षवत् स्फुरित होता है। स्वभावोक्ति अलंकार का यही स्वरूप है। अत: स्वभावोक्ति से इसका अंतर स्पष्ट किया जाना चाहिए। यह अंतर स्पष्ट करते हुए रुय्यक कहते हैं कि संवाद दो प्रकार का होता है–हृदयसंवाद और वस्तुसंवाद। रसवदलंकार में हृदयसंवाद होता है, स्वभावोक्ति में वस्तुसंवाद। वस्तुसंवाद में चित्त में वस्तु का बिम्ब बनता है। भाविक न वस्तुसंवाद होता है, न हृदयसंवाद। साथ ही स्वभावोक्ति की तुलना में भाविक का प्रसार काल में अनेक आयामों में होता है जबकि स्वभावोक्ति में सिद्ध या पहले से विद्यमान वस्तु का ही वर्णन किया जाता है। रुय्यक कहते हैं–भाविक अलंकार का अनुभव श्रोता अथवा भावक योगी की भांति भूत और भविष्यत् को साक्षीभाव से देखते हुए करता है।

प्रतिहारेंदुराज भाविक में तत्काल अर्थ की प्रतीति अनिवार्य मानते हैं। कविगत अभिप्राय श्रोता या पाठक के मन में तत्काल अंकित हो जाता है, उसके कारण रसास्वाद व चतुर्वर्ग की सिद्धि काव्य में संभव होती है। कवि का रससमुल्लसित आत्मा शब्दार्थ के दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है और वह माधुर्य, ओजस् तथा प्रौढ़ि से

आविद्ध हो कर प्रकाशित होता है। भावक इन्हीं शब्दार्थ का ग्रहण करता है और कवि की आत्मा का साक्षात्कार करके चतुर्वर्ग की परम पुष्टि पाता है–

रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे।
माधुर्यौजोयुतप्रौढ़े प्रतिबिम्बप्रकाशिते।।
सम्पीतस्वच्छशब्दार्थोद्राविताभ्यन्तरतस्ततः।
श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिं चतुर्वर्गे परां व्रजेत्।।

(प्रतिहारेन्दुराज **काव्यालंकारसारसंग्रह पर लघुवृत्ति**)

भाविक में वस्तुतः आस्वाद नहीं होता, साक्षीभाव होता है। अप्पय दीक्षित ने भाविक को 'भूतभव्यार्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम्' कहा है। इस अलंकार के निबन्धन के लिए कवि को ऋषि होना चाहिये। कुल मिलाकर दण्डी से आरम्भ कर के अप्पय दीक्षित तक एक हज़ार वर्ष की अवधि में कई आचार्यों ने भाविक अलंकार पर विचार किया, उस विचार में भट्टतोत का यह मन्तव्य पिरोया हुआ है–

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।
दर्शनाद् वर्णनाच्चैव स लोके प्रथितः कविः।
नोदिता कविता तावद् यावज्जाता न वर्णना।।

अलंकारविमर्श में हृदयसंवाद, वस्तुसंवाद तथा साक्षात्कार ये तीनों कलानुभव की दशाएं निरूपित हुई हैं। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि शल्य जी के विवेचन में पदावली की नवीनता के कारण अवधारणाओं की नवीनता भासित होती है, तत्त्वतः उनकी दृष्टि प्राचीन आचार्यों के द्वारा उत्थापित वैकल्पिक दृष्टियों से संवाद रखती है।

१. विस्तृत विवरण के लिए मेरी पुस्तक **अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम्** – प्र. संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २००५, द्रष्टव्य।

२. विस्तृत विवरण के लिए **नाट्यम्**-५३ में प्रकाशित प्रकाशपांडेय का लेख द्रष्टव्य।

राधावल्लभ त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर-४७०००३

प्रोफेसर राधावल्लभ त्रिपाठी की टिप्पणी पर कुछ स्पष्टीकरण

प्रोफेसर राधावल्लभ जी त्रिपाठी ने मेरी काव्य-विमर्श पुस्तक की समीक्षा[1] जिस मनोयोग से लिखी थी उससे अनुगृहीत अनुभव करते हुए मैंने उन्हें इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद लिखे अपने दो लेख विचारार्थ भिजवाये थे। इनमें एक लेख 'काव्य-लक्षण'[2] तो मैंने उनकी उस समीक्षा से प्रेरित होकर ही लिखा था, क्योंकि उससे मुझे लगा कि मेरे काव्यविषयक प्रतिपादन के मूलसूत्र 'विषयिता का विषयिता-प्रत्यय रूप में अवगमन' का अर्थ उन्हें स्पष्ट नहीं हुआ है। दूसरे लेख का शीर्षक 'काव्य विषयक सौन्दर्य और साधारणीकरण की अवधारणाओं की समीक्षा'[3] है। अब त्रिपाठी जी ने मेरे इन दो लेखों को लेकर, विशेषत: प्रथम लेख को लेकर, पुन: टिप्पणी की है जिसके लिए मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करना चाहता हूँ। इस टिप्पणी में उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे लेकर मुझे कुछ और स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। किन्तु यह स्पष्टीकरण मैं मूल अवधारणाओं को लेकर नहीं करूँगा, क्योंकि वह तो पहले मैं पर्याप्त विस्तार से कर चुका हूँ, यहां केवल कुछ अवान्तर बातों को लेकर ही स्पष्टीकरण देना अपेक्षित है।

सर्वप्रथम मैं यह कहना चाहूँगा कि मैंने रस-सिद्धान्त का खंडन करने के उद्देश्य से कुछ नहीं लिखा है, मैंने केवल काव्य और कलाओं के स्वरूप विषयक अपनी दृष्टि को लेकर ही लिखा है, उस प्रसंग में अपनी बात स्पष्ट करने के लिए कुछ दूसरी दृष्टियों को व्यावर्तक उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया है। पिछले, विशेषत: भारतीय, आचार्य उसी काव्यानुभव और काव्य-रचनात्मकता को समझने का प्रयत्न कर रहे थे जिसे मैंने समझने का प्रयत्न किया है। वे बहुत विचक्षण चिन्तक थे और उन्होंने विचार की सुदीर्घ परंपरा में अपने प्रतिपादनों का परिष्कार भी किया। इसलिए यह कहना तो दूर, सोचना भी बड़ी हिमाकत होगी कि मैं कुछ ऐसा देख पाया हूं जो वे नहीं देख पाये थे। किन्तु मुझे काव्य-मीमांसा में ही नहीं, पूरे दार्शनिक चिन्तन में ही दार्शनिक अनुभव को कुछ दूसरी तरह से और दूसरी पदावली में समझने की आवश्यकता अनुभव होती रही है। इस क्रम में मेरा सबसे पहला लेख 'मनुष्य और जगत्'[4] देखा जा सकता है जिसमें मैंने प्रत्यक्ष विषयक पिछले सम्पूर्ण चिन्तन पर प्रश्न-चिह्न लगाया था। उसके बाद का मेरा

सारा दार्शनिक लेखन ऐसा ही है–इस अंक में संकलित लेख के सहित। मुझे अक्सर लगा है कि ये ठीक बात ग़लत ढंग से कह रहे हैं, अथवा, इस बात को ऐसे नहीं, ऐसे समझना चाहिए था।

यहां उदाहरणार्थ त्रिपाठी जी की टिप्पणी से पंडितराज जगन्नाथ का एक वाक्य उद्धृत करना चाहूंगा–"रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरण चित् ही रस है अथवा भग्नावरण चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायी रस है।" अब, यहां पंडितराज जो देख रहे हैं वह निश्चय ही उसके बहुत निकट है, अथवा 'वही है' ऐसा भी कह सकते हैं, जो 'विषयिप्रत्यय' पद द्वारा मैं व्यक्त करना चाह रहा हूं, किन्तु पदावली बहुत भिन्न है और यह पदावली उस वाच्य को भी बहुत भिन्न कर देती है जिसे यह निरूपित करने का प्रयत्न कर रही है, और यह एक नितान्त भिन्न दार्शनिक सिद्धान्त की अंग हो जाती है। प्रोफेसर त्रिपाठी पंडितराज के इस वाक्य पर कहते हैं–"साक्षी चैतन्य है, उसमें भासित विषय साक्षिभास्य होकर विषयिता-प्रत्यय में ही परिणत हो जाते हैं। यह तो पंडितराज स्पष्ट ही कहते हैं।" किन्तु यह ठीक नहीं है, पंडितराज ऐसा नहीं कहते, 'विषयिता-प्रत्यय' इस पदावली का प्रयोग पंडितराज में ही नहीं पूरी काव्यमीमांसीय परंपरा में कहीं नहीं हुआ है, और पदावली का यह भेद पूरे सिद्धान्त की भिन्नता को अनिवार्य कर देता है, यह बात त्रिपाठी जी नहीं देख रहे हैं। साक्षिभास्य विषय *विषयी को प्रस्तुत विषय* हो सकता है जबकि *विषयिप्रत्यय विषयी का अबाह्य अन्तर्गतार्थ* होता है। यह अन्तर नहीं समझ सकने के कारण ही वे मेरे इस पद-प्रयोग का अर्थ भी ठीक से नहीं समझ रहे हैं, जैसाकि इस को लेकर दो अनुच्छेदों के बाद की उनकी टिप्पणी से स्पष्ट है। किन्तु यहां मैं वह समझाने का प्रयत्न नहीं करूंगा, क्योंकि उसका पर्याप्त विशद और स्पष्ट विवेचन **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के कला विषयक अध्यायों में और 'काव्य-लक्षण' लेख में उपलब्ध है।

अपने इस टिप्पणी-लेख के आरंभ में त्रिपाठी जी ने मुझे दयाजी के साथ समूहित करते हुए लिखा है–"दयाजी और शल्यजी दोनों की दृष्टि अलंकार के बारे में नितांत भ्रान्त है। ये दोनों अलंकार को केवल कविता या कला के शिल्प तक ही सीमित करके देखते हैं।" यह एकदम से ग़लत है। दयाजी की बात दूसरी है। मैंने अलंकारों को काव्य-भाषा के सहज-अनिवार्य प्रयोग ही कहा है और उन्हें 'सज्जा के उपकरण' कहने का विरोध किया है,[५] किन्तु बहुत से काव्य-शास्त्री उन्हें ऐसा मानते रहे हैं और बहुत से कवि भी इस रूप में ही उनका प्रयोग करते रहे हैं, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आगे त्रिपाठी जी ने अभिनव गुप्त के साधारणीकरण सिद्धान्त की मेरी आलोचना को लेकर कुछ टिप्पणी की है जिसका स्पष्टीकरण देना चाहूंगा। त्रिपाठी जी का कहना है

कि ''वासना-संवाद' में 'संवाद' का अर्थ साधारण्य नहीं है।'' किन्तु प्रश्न है कि 'साधारर्ण्य' का क्या अर्थ है? मैंने अभिनव गुप्त के एतद्विषयक वाक्य का अनुवाद इस प्रकार किया है–''सब व्यक्ति अपने-अपने चित्त के कक्ष के भीतर से, या कहें अपनी-अपनी आँख से, देखते हुए इन कक्षों की समानता (समानरूपता) के कारण जिन विषयों का साक्षात्कार करते हैं वे उन-उन के विशिष्ट होते हुए भी उन्हें समान प्रतीत होते हैं।'' यह शब्दानुवाद नहीं होकर व्याख्यात्मक अनुवाद है और इसमें 'वासना-संवाद' की ही व्याख्या है। इसी अर्थ में 'साधारण्य' को इसका पर्याय कहा गया है। इसमें क्या ग़लती है यह त्रिपाठी जी ने नहीं बताया। पाश्चात्य दर्शन में इसके लिए 'इंटर्सब्जेक्टिविटी' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है 'सब देखने वालों के ग्रहण निजी होने पर और परिणामत: दृश्ट वस्तु भिन्न होने पर भी वह एक ही पद-प्रयोग की विषय होती है।' यों 'अनादिवासना' शब्द व्यक्ति-चित्तों से अतिक्रांत मूलाविद्या के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है किन्तु व्यक्ति-चित्तों में वह वासना व्यक्ति-निष्ठ ही होगी। इसलिए व्यक्तियों के विषयों में अनुरूपता : साधारण्य : के लिए 'संवाद' मानने की आवश्यकता हुई। 'प्रत्यय' इसके विपरीत अपने स्वरूप में ही सामान्य होते हैं और उनका प्रत्यक्ष सामान्य-ग्राही चेतना में ही होता है, इस ग्रहण में व्यक्तिनिष्ठता का कारण वासनाएं और आग्रह आदि होते हैं। मैं वहां यही भेद दिखाना चाहता हूं। आगे त्रिपाठी जी का आक्षेप है कि ''शल्य जी ने यह भी मान लिया है कि अभिनवगुप्त के अनुसार वासनाएं या उपाधियां वस्तु-दर्शन में विघ्नकारक होती हैं। यह भी अभिनवगुप्त ने नहीं कहा है।'' तब अभिनवगुप्त ने विघ्न किसे कहा है? वासनाएं, उपाधियां आदि तो परिभाषया ही वस्तु-स्वरूप-दर्शन में विघ्न-कारक मानी गई हैं। अभिनवगुप्त का वाक्य है–''तत एव भीतोऽहं, भीतोऽयं, शत्रुर्वयस्योमध्यस्थे वा इत्यादि दु:खसुखादिकृत बुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तयाविघ्नबहुलेभ्यो-निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्यं ... भयानको रस:।'' अब, इस में 'अहं, अयं' व्यक्त्युपाधि के वाचक पद हैं, 'शत्रु, मित्र, मध्यस्थ' राग-द्वेष वाचक, 'सुख-दु:खादिकृत बुद्ध्यन्तरोदय' अनुभूतिमूलक बुद्धि-भेदवाचक। इन्हीं को अभिनवगुप्त विघ्नकारक कह रहे हैं और ठीक ही कह रहे हैं। अब प्रश्न है कि इन विघ्नों से रहित भय-प्रतीति कैसी होगी? यह उसकी शुद्ध आकाररूपता होगी। 'प्रत्यय' से हमारा यही अर्थ है। किन्तु प्रत्यय विषयरूप भी होते हैं, वास्तव में वही उनका सहज रूप होता है। जब हम कहते हैं–'बच्चा अँधेरे में पेड़ को भूत समझ कर भागने लगा और भागने से उसका भय और बढ़ गया। भय से भागने लगो तो भय और बढ़ जाता है' तो यहां हमारा विषय हमारे चित्त में वृत्ति रूप से घटित, अथवा अन्य के चित्त से संक्रमित चित्त-वृत्ति रूप में घटित भय नहीं है अपितु भय-प्रत्यय ही है। किन्तु यह प्रत्यय का विषय-रूप है। वास्तव में शत्रु, मित्र, मध्यस्थ (उदासीन) के चित्त में घटित या हमारे चित्त में अतीत में घटित स्मृत भय भी तब

प्रत्यय-विषय ही होता है जब हम वर्तमान में भयभीत नहीं होते। किन्तु काव्य में वह विषयि-प्रत्यय रूप में अवबोध्य होता है। इस प्रत्यय का कैसा स्वरूप होता है इसका हमने 'काव्य-लक्षण' लेख में तथा अन्य लेखों में विवेचन किया है। यह रूप चित्तवृत्ति : भयादि उद्वेग, भावना, विचार, विवेक आदि : की अप्रस्तुतनिजता का अन्तर्गतार्थ होता है। यह पदावली अभिनव गुप्त तथा अन्य काव्यशास्त्रियों को उपलब्ध नहीं होने से उनके सिद्धान्त में असम्यक्ता और अल्पव्याप्ति-दोष है।

त्रिपाठी जी ने अलंकारशास्त्रियों की बात भी की है। मेरा उनसे परिचय नहीं है। मैं काव्यशास्त्र, या किसी अन्य शास्त्र का भी–दर्शनशास्त्र सहित–पंडित नहीं हूं। जैसाकि मैंने आरंभ में ही कहा, मेरा उद्देश्य आप-देखी को समझना होता है, दूसरों के अध्ययन से उसमें सहायता लेना होता है। किन्तु त्रिपाठी जी ने अलंकारशास्त्रियों का जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि वे रसवादियों की लय-ताल में ही गा रहे हैं। किन्तु ये सब बहुत सा निरर्थक शब्द-प्रयोग भी करते हैं। जैसे रुय्यक का कथन कि ''अतीत और अनागत, भूत और भावी का अलौकिक रूप में शब्द से समर्पित हो चुकने के बाद चेतना में प्रत्यक्षमाण हो जाना भाविक अलंकार है।'' इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं बनता, और यदि खींचा तानी कर कोई अर्थ आप बना सकें तो उसका काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं बनता। यह परिभाषा किस तरह तो मेघदूत काव्य पर लागू होगी, और यदि करें तो किस तरह शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य या नागार्जुन के मध्यमक शास्त्र या पाणिनी की अष्टाध्यायी पर लागू नहीं होगी? आगे त्रिपाठी जी विद्यानाथ को उद्धृत करते हैं–''कवि की अद्भुत कला के कारण भावक के चित्त में भावना उदित हो जाती है। जैसे विरही के चित्त में कामिनी की भावना होती है उसी तरह कविगत आशय प्रतिबिम्बित होकर भाव या भावना के रूप में चित्त में निवेशित हो जाता है।'' यह उद्धरण संस्कृत काव्यशास्त्र के सामान्य दृष्टि-दोष का प्रतिनिधि कहा जा सकता है और हमारी परिभाषा आधारभूत रूप से इस दोष का परिहार करती है। भावना का संप्रेषण करुण रुदन से भी हो सकता है और अधिक प्रभावशाली हो सकता है। अब, यदि कविता लिखते समय कवि के हृदय में भावना नहीं हो तो? अभिनेता के हृदय में तो वह प्राय: नहीं ही होती! वह रोने के लिए आंखों में ग्लीसरीन डालता है। इस तरह काव्य में भावना का हृदय से हृदय में संप्रेषण लक्षित नहीं होता। 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' में काव्य के स्वरूप की समझ आधारभूत रूप में भ्रान्त है। इन परिभाषाओं से भी अधिक निरर्थक है 'शब्दार्थौ सहितो काव्य्।' अब, शब्दार्थ तो सब भाषाप्रयोग में सहित ही होते हैं, पृथक् होने पर भाषा ही कैसे होगी? इस दोष का परिहार 'सौन्दर्य' से किया गया है–''काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का समान रूप से सौन्दर्य लक्षित होता है।'' यहां 'सौन्दर्य' का क्या अर्थ है? रामायण के शूर्पणखा के नाक काटने के वर्णन में, महाभारत के द्रौपदी के चीर-हरण के

वर्णन में, गोदान या झूठासच या चतुरी चमार उपन्यासों में अर्थ-सौन्दर्य किस अर्थ में है? इन में शब्द-सौन्दर्य भी किस अर्थ में है? सौन्दर्य की यह उभयता इनसे अधिक स्पष्ट रूप से विज्ञापनों में और एक भिन्न प्रकार से बहुत से उपकरणों के निर्माण में कैसे नहीं होती? कार बनाने वाले रूप-सौन्दर्य और कार्य-कौशल दोनों को लक्षित करते हैं।

एक बात और त्रिपाठी जी ने कही है जो समझ में नहीं आयी। वे कहते हैं–''कालिदास की कविता पढ़कर भी 'विषयिता का विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन' हो जाता है, किसी और की कविता पढ़कर भी विषयिता का विषयिता-प्रत्यय रूप में अवगमन हो जाता है। इसके आगे किसी कवि की कविता के बारे में क्या कहा जाय, यह इस लक्षण से सामने नहीं आता।'' त्रिपाठी जी का यहां अभिप्राय है कि इसमें कविता के मूल्यांकन की कसौटी नहीं मिल सकती। किन्तु यह तो किसी भी स्वरूप लक्षण में नहीं मिल सकती? उनके अनुसार रस को लक्षण बनाने पर मिल सकती है। तब संस्कृत का निम्न प्रसिद्ध श्लोक देखें–

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ-गौरवं
दंडिन: पद-लालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणा:।

इसमें विभिन्न कवियों के काव्य का उत्कर्ष रस में नहीं देखा गया है। इसमें भिन्न-भिन्न कवियों की कविता की उत्कृष्टता के आधार भिन्न-भिन्न दिये गए हैं। किन्तु ये उनकी कविता के 'कविता' होने के अधार नहीं है। यदि कहें, ये सब रसोत्पादक गुण हैं तो प्रश्न होगा कि यह कैसे निर्णय करें कि कौन गुण अधिक रसोत्पादक है?

किन्तु सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि 'काव्य-लक्षण' लेख विशेष रूप से 'विषयि-प्रत्यय' पद का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखा गया होने के बावजूद इस पद का अर्थ त्रिपाठी जी को संप्रेषित नहीं हो पाया है। वे कहते हैं–''शल्यजी के विवेचन में यह विषयिता-प्रत्यय चित्तवृत्ति है।'' यह मेरे प्रतिपादन के ठीक विपरीत है। चित्तवृत्ति विषयिता है, विषयि-प्रत्यय नहीं है। इस पद का अर्थ समझने में इस असमर्थता का कारण काव्य-शास्त्र की परंपरा से बाहर नहीं निकल पाना ही है। इसी प्रकार, वे कहते हैं–''अन्य के लिए अपने को विषय बनाकर देखना, यह भी एक विषयिता-प्रत्यय है।'' यह भी ठीक नहीं है। इसमें क्या भ्रांति है, यह यहां स्पष्ट करना कठिन होगा। इसे समझने के लिए तो 'काव्य-लक्षण' लेख का वह अंश ही देखना ठीक होगा जिसमें इसका विवेचन है। इसके आगे वे कहते हैं–''भावों की विषयिता-प्रत्यय रूप में उपलब्धि, या विषयिता का विषयिता-प्रत्यय के रूप में अवगमन ही शल्यजी की दृष्टि में काव्य-बोध है।'' कहा जा सकता है कि यह ठीक है, किन्तु इसका अर्थ वे क्या समझ रहे हैं, यह कहना कठिन है, क्योंकि यह वाक्य ऊपर के वाक्यों के साथ ही आगे आया है।

किन्तु इस सब स्पष्टीकरण के बाद मैं स्वीकार करना चाहूंगा कि त्रिपाठी जी का यह निष्कर्ष ग़लत नहीं है कि मेरी दृष्टि प्राचीन आचार्यों की वैकल्पिक दृष्टियों से विसंवादी नहीं है। त्रिपाठी जी के प्रति समीक्षा-लेख और यह टिप्पणी लिखने के लिए आभार भी व्यक्त करना चाहूंगा।

यशदेव शल्य

सन्दर्भ

---

१. **उन्मीलन** जुलाई, २००५
२. **पूर्वग्रह**, अंक ११८
३. यह लेख पहले 'काव्य और सौन्दर्य' शीर्षक से लिखा गया था और वह **उन्मीलन** के जनवरी, २००५ अंक में प्रकाशित हुआ, अनन्तर उसमें 'साधारणीकरण' की अवधारणा की समीक्षा का भी समावेश किया गया और वह **बहुवचन** के २००५ या २००६ के किसी अंक में प्रकाशित हुआ, किन्तु उसमें दुर्भाग्यवश 'साधारणीकरण' की आलोचना वाले पृष्ठों में क्रम-विपर्यय हो गया।
४. **चिद्विमर्श** में संकलित यह लेख लगभग १९७८ में लिखा गया था।
५. द्रष्टव्य **काव्यविमर्श** पृ. १२५-२६ तथा 'काव्य विषयक सौन्दर्य और साधारणीकरण की अवधारणाओं की समीक्षा।'

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत
दर्शन प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

1.	धर्म-संकट	- मुकुंद लाठ	200.00
2.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	- यशदेव शल्य	200.00
3.	चिद्विमर्श	- यशदेव शल्य	175.00
4.	तत्त्व-चिन्तन	- यशदेव शल्य	200.00
5.	काव्य-विमर्श	- यशदेव शल्य	250.00
6.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	- यशदेव शल्य भगवती	150.00